

वर्ष : 38, पुनर्प्रकाशन वर्ष : 1, अंक - 3, जनवरी-मार्च 2014

30 रुपये

चिन्ता, विश्लेषण, सोधार्थी मंचन की

अभिव्यंजना



विद्यार्थी मंच

उप पाद से...

ओ दुग आ, मुझे और लिए चल, जरा-सा
और गा

ताकि मैं सुनूँ और झुनूँ

और उन गए मानों को आत्मा से चूमूँ

जो मेरे होंगे-और मैं जिनमें हूँगा

वह दर्शन-वह कर्म

वह शांति-वह मर्म

जो दुगों ने न समझा होगा

वह तेरा मेरा होगा

ओ दुग, आ.

शमशेर बहादुर सिंह

विचार, विश्लेषण, शोध एवं सृजन की

अभिव्यंजना

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष-38 पुनर्प्रकाशन वर्ष- 1, अंक-3 जनवरी-मार्च 2014

संपादक

डॉ. मीरा सिन्हा

सहसंपादक

डॉ. अर्चना पाण्डेय

प्रकाशक

आनंद कुमार सिन्हा

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन

सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल

संपर्क – 0332675 7195/1686 मोबाइल-098314 97320, 098308 39032

ई-मेल – sinhameera48@gmail.com, pandeyarchanaphd@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण

50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009

व्यवस्थापन एवं वितरण

अभिलाषा तिवारी, सुनील कुमार साव, विजेता साव,

जीवन सिंह, सुलेखा कुमारी और अम्बर चौधरी

आवरण सज्जा

शुभागता श्रीवास्तव

आकल्पन

सोनू प्रजापति

मूल्य – 50/- रुपये

अवस्थिति

3 संस्तुति

आलेख

- 4 डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र : हिन्दी आलोचना का पाश्चात्य समीक्षा से साक्षात्कार और उसकी परिणति
- 10 डॉ. शिवकुमार मिश्र : धूमिल के गद्य साहित्य पर एक समीक्षात्मक दृष्टि
- 14 डॉ. हरेराम पाठक : समीक्षा की वैचारिकी एवं मुक्तिबोध
- 20 ज्ञानप्रकाश पाण्डेय : हिन्दी गजल अतीत से वर्तमान तक

गवेषणा

- 26 डॉ. विनय कुमार पटेल : भूमंडलीकरण के दौर में सांप्रदायिकता तथा हिंदी उपन्यास
- 33 डॉ. राजीव कुमार वर्मा : प्रेमचंद और दलित समस्या

कहानी

- 40 इंदिरा दाँगी : मेरा एक दोस्त था
- 46 डॉ. शुभा उपाध्याय : माँ का बक्सा
- 52 सुलेखा कुमारी : इंसान का वजूद

अनुशीलन

- 55 डॉ. सुनीता साव टेपचू : क्रूर व्यवस्था के खिलाफ एक चुनौती
- 59 डॉ. पुनीत कुमार राय राग-रंग, रस-छंद के अथक पथिक : देवेन्द्र शर्मा 'इंद्र'
- 66 डॉ. अर्चना पाण्डेय विष्णु प्रभाकर की कहानियों में मनुष्यता की तलाश
- 70 डॉ. गायत्री सिंह अमानुषिकता, अकहानी और हिन्दी कहानी

कविता

- 75 राजकुमार कुम्भज श्रीमान 'ग', एक अकेला आदमी, वक्त आने पर, मुझे माफ करो क्योंकि मैं कवि हूँ, खबर उस कवि के मरने की

78 डॉ. शांति सुमन

कोई दुःख अपना,
गेरू के रंगों से,
एक कोमल प्यार,
फूलों में भाषा
सिर्फ देखने की इजाजत है,
पत्ते उठो, कभी-कभी,
अपने में प्रसन्न, उनके लिए भी
मैं शायर बदनाम, कोकराझार,

80 डॉ. मनीषा झा

83 राज्यवर्द्धन

नई पहल नया कदम

84 रश्मि राय

डर

विमर्श

- 85 डॉ. नीरजा माधव तुलसी की ताड़ना
- 89 श्रीकांत पाण्डेय रूपवादी कसौटी की निरर्थकता
- 92 विजेता साव आज की स्त्री का घोषणापत्र

भाषान्तर

- 96 कातिन्द्र सोरगियारी : हंगला पंडित (बोड़ो कहानी)
: अनुवाद : (किशोर कुमार जैन)

- 100 शक्ति चट्टोपाध्याय : बिल्ली, सिर्फ जीना चाहता हूँ,
आखिरी दिन, तुम अकेले रहना (बांग्ला
कविताएँ : अनुवाद : जीवन सिंह)

संचार

- 101 डॉ. उमेश चन्द्र शुक्ल मीडिया का लोकतंत्रीकरण:
वेब मीडिया

अन्तःपाठ

- 106 लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता उसने कहा था : प्रेम की
कालजयी दास्तान

गतिविधियाँ

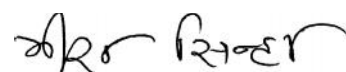
- 109 कस्तूरी प्रतिरोध का सिनेमा : पहला कोलकाता
पीपुल्स फिल्म फेस्टिवल

परिशिष्ट

संस्तुति

लम्बे अंतराल के पश्चात् 'अभिव्यंजना' (१९७६-७८ की लघु पत्रिका) का पुनर्प्रकाशन सिर्फ संयोग ही नहीं, जरूरत भी है। इस जरूरत की खदबद बहुत दिनों से बेचैन करती रही है, लगभग तब से, जब से आपातकाल के बाद के भारत का सामाजिक, राजनैतिक परिवेश सब कुछ तहाने की धुन में मशगूल हो गया और चार दशक बीत गये। एक सदी बीती और दूसरी सदी खड़ी हो गई। गली, मुहल्ले का शोर आशियाने में कैद हो गया। संचार के घेरे में हम ऐसे घिरे कि न कॉफी हाउस रहा, न चाय खाना, न पुस्तकालय बचे, न सिनेमाघर। हम दुनियाँ को दूर से निहारने लगे— न कोई बवण्डर, न कहीं धूल लगने की गुंजाइश, दुनियाँ जैसे मुट्ठी में बंद होकर दिल और दिमाग पर चस्पाँ हो गई— इस तरह हम सभी हर बात में 'कम्फर्टेबल' होते गये और फिर 'कंडिशनड' हो गये। हमारी सारी कोशिशों में 'लाभ और लोभ' के बिन्दु जुड़ते चले गये। तालमेल और तिकड़म से भरा, पूरा का पूरा परिवेश जीवन मूल्य की धज्जियों से अटा पड़ा है। इस तंत्र में 'सीधे-सीधे, पटरी-पटरी' दौड़ना बहुत बड़ा जोखिम है, हर कदम पर पेंचोखम है, क्योंकि एक तरफ 'खासों' का गुट है, मसीहों की जमात है तो दूसरी तरफ झण्डाबरदार, चारण, चाटुकार या निरपेक्ष डरे हुए लोगों की भीड़ है— एक ऐसी भीड़ जो किसी न किसी झण्डे तले अपने को सुरक्षित महसूस करने की गलती ढोती रहती है। चारों तरफ नगाड़े बज रहे हैं, ऐसे में सुकून के साथ इबादत करना भी कठिन है। पढ़ना-लिखना, अध्ययन-अध्यापन, शोध-संचार हर तरफ तख्तियों की भरमार लगी है, देशकाल और समाज की परिस्थितियों ने अकादमिक संस्थानों को भी कम प्रदूषित नहीं किया है। भाषा और साहित्य से सम्बद्ध विभागों में अध्ययन का स्वरूप दिन-ब-दिन सूचनात्मक होता जा रहा है। साहित्य में विषयों की निपुणता पर अधिक बल दिया जा रहा है— तकनीकी विषयों की बढ़त ने साहित्य की मूल दिशा को कहीं न कहीं दिग्भ्रमित किया है। निहित स्वार्थ से ग्रस्त लोगों की जमात ने साहित्य से साहित्यिकता का तिरोहण कर दिया है। शोध हो रहे हैं और बड़ी तादाद में हो रहे हैं, परन्तु उनका उद्देश्य शोध या अन्वेषण नहीं है बल्कि वजीफा हासिल करना है या नौकरी ले लेनी है। गंभीर विषयों में भी रोजगार और तिकड़म के सिवा हमें कुछ दिखाई नहीं पड़ता। जहाँ स्वार्थपरता की धूम होगी वहाँ दर्शन या दृष्टि की प्रधानता नहीं होगी बल्कि, तकनीक की भरमार होगी, खाना पूर्ति की प्रक्रिया तीव्र होती जायेगी और यही हो रहा है। साहित्य जैसा विषय जिसमें 'सहित' तो है ही 'स हित' भी निहित है कि प्रत्येक विषय, प्रत्येक घटना, प्रत्येक सूचना का अपना साहित्य होता है और यही इस विषय की व्यापकता प्रमाण है।

आज उदारीकरण के दौर में हिन्दी फिर भी साहित्य संस्कृति से दूर कहीं बाजार हो रही है। विडम्बना और विसंगति के इस परिवेश में कोई अपना सिर नहीं फोड़ता — व्यवस्था के पुर्जे तैयार होते हैं और फिट कर दिये जाते हैं। अतः बाजारीकरण के इस दौर में सारे संस्थान (शिक्षा के भी) यांत्रिक ढंग से काम करने लगे हैं। 'पैकेज' और 'ऑफर' की संस्कृति ने सब कुछ लील लिया है, बच रही है केवल इस्तेमाल की चीजें और लोग जो इस्तेमाल होते भी हैं और करते भी हैं इसलिए अब सम्बन्धों में छन्द नहीं है। अवज्ञा और अवमानना, हेठी और अक्खड़पन आज का सहज राग है। अस्तु, अभिव्यंजना एक ऐसे मुहिम की ओर अग्रसर है जो साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, शोध, संचार एवं सृजन के क्षेत्र में गम्भीरता, स्तरीयता एवं स्वस्थ दृष्टि की स्थापना कर सके। लघुपत्रिकाएँ हमेशा आन्दोलन का स्रोत रही हैं। आज के प्रदूषित परिवेश में उसका वाणिज्यिक इस्तेमाल शुरु हो गया है, पीली पत्रकारिता ने उसके अकादमिक स्वरूप को कलंकित किया है। प्रदूषित साहित्यिक सांस्कृतिक परिवेश के खिलाफ स्वस्थ अकादमिक परिवेश का सृजन आवश्यक है।



(संपादक)

हिन्दी आलोचना का पाश्चात्य समीक्षा से साक्षात्कार और उभरी परिणति

डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र

(भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य हिन्दी विभाग,
गोवा विश्वविद्यालय)

कहना न होगा कि प्रस्तुत विषय अपने पेट में इतना विस्तार और गहराई समेटे हुए है कि इस पर एक अच्छा खासा प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है, जो इस प्रपंच में संभव नहीं। लिहाजा सविस्तर विवरणात्मक साक्ष्यों के अम्बार से बचकर यहाँ पाश्चात्य समीक्षा से साक्षात्कार करने वाली उस मूल चेतना को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जो हिन्दी आलोचना में अद्यतन प्रवहमान है।

विषय के विवेचन में जाने से पहले जो प्रश्न उभरता है वह यह कि हिन्दी आलोचना में समान्यतया जिसे प्रभाव कहा गया है, उसे प्रस्तुत विषय में साक्षात्कार की संज्ञा क्यों दी गई है? क्या प्रभाव साक्षात्कार समानार्थी रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं? यदि नहीं तो इसमें तात्त्विक अंतर क्या है तथा दोनों में से हिन्दी आलोचना के लिए कौन वरेण्य है? ये प्रश्न आपके सामने भी विचारणीय हैं। अपनी ओर से मैं केवल इतना कहने का जोखिम लूँगा कि 'साक्षात्कार' में साक्षात्कारकर्ता की मानसिकता का 'इन्वाल्वमेंट' (सक्रियता) 'प्रभाव' की अपेक्षा ज्यादा गहरा और स्पष्ट होता है। 'साक्षात्कार' में 'कर्ता' और 'कृति' की सक्रियता संश्लिष्ट रूप से समाविष्ट रहती है, खासतौर से कर्ता की सक्रियता। कर्ता अपनी जरूरत के मुताबिक कृति से जो पाना चाहता है, उसे निचोड़ता है। और आलोचना के क्षेत्र में इस जरूरत से आलोचना-दृष्टि का विस्तार ही होता है। हिन्दी आलोचना के स्तंभ आलोचकों का साक्षात्कार इसे प्रमाणित करता है कि हिन्दी आलोचकों ने निष्क्रिय प्रभाव की अपेक्षा सक्रिय प्रभाव यानी साक्षात्कार की सक्रियता को स्वीकार किया और इस साक्षात्कार के साथ हिन्दी आलोचना की दृष्टि का विस्तार करने में सक्षम रहे। चाहे वे शुक्ल जी हों या अज्ञेय, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, सबने पाश्चात्य समीक्षा को अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक जरूरत के मुताबिक स्वीकार किया है जिससे हिन्दी आलोचना का विकास-क्रम आगे बढ़ा है। अतः कहें तो कह सकते हैं कि प्रभाव को विशिष्ट रूप से ग्रहण करना ही साक्षात्कार है। और यह वैशिष्ट्य देन होता है सामयिक जरूरतों का।

तात्पर्य यह है कि हिन्दी आलोचना का पाश्चात्य समीक्षा से साक्षात्कार हिन्दी आलोचना की जरूरतों के मुताबिक ही हुआ है। हाँ, एक लम्बी यात्रा के दौरान कभी-कभी अनुकरणात्मक उबाल भी उठे हैं, पर वे परम्परा का अंग न बन पाने के कारण इतिहास में खो गए हैं। बेहतर होगा कि हिन्दी आलोचना के विकास क्रम के सन्दर्भ में इसका जायजा लिया जाय। आरंभ में ही यह स्वीकारने में आलोचना के विकास-क्रम में कोई बाधा नहीं

पड़ती कि अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव के साथ जिस नवोन्मेष का आरंभ हिन्दी आलोचना के आधुनिक काल में हुआ, उससे हिन्दी आलोचना को कोई क्षति नहीं हुई। यानी हिन्दी आलोचना का पाश्चात्य साक्षात्कार हमारी आलोचना-परंपरा के पुनर्निरीक्षण में सहयोगी हुआ, इससे उसके वस्तुगत आयाम का विस्तार हुआ। वे लोग मुगालते में हैं जो सांस्कृतिक-साहित्यिक प्रभाव के वजूद को ही नकारते हैं और वे भी जो अतिशय सुरक्षाभाव से प्रभावों से बचकर चलते हैं, कम मुगालते में नहीं। हमें सहज भाव से इस सच्चाई को अंगीकार करना चाहिए कि पश्चिम ने भारतीय चेतना को प्रभावित किया है। यह प्रभाव किसी तरह हमारे लिए क्षय का नहीं विकास का पर्याय रहा है।

भारतीय समीक्षा में पश्चिमी प्रभाव का आगमन उन्नीसवीं सदी से ही हुआ। खासतौर से हिन्दी समीक्षा का आरंभिक काल जिसे आधुनिक काल का आरंभ भी कहा जाता है, अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी समीक्षा का साक्षात्कार करने में सफल हुआ जिसके परिणामस्वरूप भारतेन्दुकालीन पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा का विकास हुआ। हिन्दी आलोचना के व्यावहारिक रूप का विकास पुस्तक समीक्षाओं से ही हुआ क्योंकि पहली बार कृति को केन्द्र में रखकर उसके विवेचन की प्रक्रिया आरंभ हुई जो सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धति से हटकर थी। सही है कि इन समीक्षाओं का लक्ष्य गुण-दोष दर्शन तक सीमित था, पर धीरे-धीरे समीक्षा के रूप का विकास हुआ और द्विवेदी काल में उसको प्रौढ़ता मिली तथा शुक्ल जी के समीक्षा क्षेत्र में आ जाने के बाद तो व्यावहारिक समीक्षा का एक परिपुष्ट रूप सामने आया जो आज तक चल रहा है। भारतेन्दु कृत 'नाटक' पर भी पाश्चात्य साक्षात्कार का प्रभाव है। इस तरह भारतीय नाट्य शास्त्र को भी नयी दृष्टि देने का एक आरंभिक प्रयास किया गया जो संकेत था कि पश्चिम के साक्षात्कार से हम अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा को भी नया रूप देकर उसे अधिक व्यावहारिक, वस्तुनिष्ठ तथा प्रासंगिक बनाने का प्रयास कर सकते हैं जो आगे के विकास-क्रम में बखूबी किया गया।

द्विवेदी युग की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक हिन्दी समीक्षा पर गौर करें और युगीन चिन्ताधारा यानी

पुनरुत्थान को मद्देनजर रखकर उसका आकलन करें तो स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि संस्कृत साहित्य-शास्त्र से उपलब्ध रस मीमांसा तथा औचित्य विचार को जीवन वास्तव से जोड़कर देखने का द्विवेदी युग के आलोचकों का प्रयास पाश्चात्य समीक्षा के साक्षात्कार के बिना असंभव था। यहीं यह भी गौरतलब तथ्य है कि द्विवेदी युग में अंग्रेजी साहित्य के अनुवाद के माध्यम से ऐसे अनेक ग्रंथों की चेतना को हिन्दी में लाया गया जिससे हिन्दी रचनाकार और आलोचक के मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ। अतीत को गौरवान्वित करने की महती परंपरा को तोड़कर उसे वर्तमान संदर्भों में आलोकित करने हेतु उसकी बुद्धिगम्य समीक्षा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यह मार्गदर्शन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की आलोचना करके दिया। जिसके लिए उन्हें आलोचना का शिकार होना पड़ा क्योंकि वे यथार्थ के धरातल पर कालिदास के पात्रों को जाँचते हैं। कोरे रसानन्द की थियरी उनके गले नहीं उतरती। और यह सब संभव हुआ उस नये ज्ञान के आलोक में जो उन्हें पश्चिम के साक्षात्कार से मिला था।

इस नयी परंपरा को आचार्य शुक्ल ने कुछ ऐसी पुष्टि दी कि आधुनिक हिन्दी समीक्षा के उद्भावक के रूप में वे हमेशा याद रहेंगे। उनके प्रयास से सारा रस शास्त्र नयी चेतना से मंडित हुआ। उन्होंने पश्चिमी मनोविज्ञान और समीक्षा-शास्त्र के साक्षात्कार से एक वस्तुनिष्ठ, व्याख्यापरक मूल्यांकन-दृष्टि हिन्दी आलोचना को दी जिससे काव्य और जीवन एकीकृत हुए। आचार्य शुक्ल के सामने हिन्दी समीक्षा के मार्ग को प्रशस्त करने का गुरुतर कार्य था, वे एक पुष्ट परंपरा का निर्धारण चाहते थे, इसके लिए उन्हें रिचर्ड्स, अरस्तू और आर्नल्ड ही प्रासंगिक लगे, क्रोचे अप्रासंगिक। कारण, वे किसी भी कीमत पर साहित्य को जीवन-संवेदना से काटना नहीं चाहते थे। वह सब कुछ उनके लिए अस्वीकार्य लगा जो रहस्यवाद के परदे में गुम था। वे चाहते थे एक वस्तुनिष्ठ नजरिया जिससे साहित्य का नया इतिहास लिखा जा सके। यही कारण है कि छायावाद के प्रति उनका रुझान एक सीमा से आगे न बढ़ सका। शुक्ल जी की दृष्टि की अपनी सीमा है, उसे स्वीकारते हुए भी यह कहना पड़ेगा

कि हिन्दी आलोचना की जो आधारशिला उन्होंने रखी उससे हिन्दी समीक्षा एकाएक बहुत ऊपर उठ गयी। गंभीर तर्क और विचार के साथ शोध और चिन्तन की परिपुष्ट व्यवस्था शुक्ल जी की आलोचना का अवदान है, जो पाश्चात्य और पौर्वात्य साहित्य के गहरे मंथन के बिना संभव न था। शुक्ल जी ने भी पश्चिमी साक्षात्कार को सामयिक जरूरतों के अनुरूप ही लिया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी एम.ए. में पढ़ायी जाने लगी थी। आलोचनाशास्त्र एक परचा था। उसके निर्धारण के लिए पश्चिमी साहित्य और समीक्षा के पाठ्यक्रम को देखते हुए मार्गदर्शन लेना था। स्वयं अंग्रेजी एम.ए. में थी। पुस्तकें भी तैयार करनी थी और व्यावहारिक समीक्षा को भी पुष्ट करना था, ताकि उसमें जीवन के विविध परिप्रेक्ष्यों का समाहार हो सके। कहना न होगा कि जिस आलोचना को प्राध्यापकीय कहकर आज नकारा जाता है, आचार्य शुक्ल तथा उनके समानधर्मा प्राध्यापकों ने उसे हिन्दी साहित्य में बहुमूल्य बनाया। उनके सामने कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड का आदर्श था, जहाँ से आलोचना की नयी चेतना जनरेट (संचारित) होती थी। यह प्राध्यापकीय चेतना के सामने प्रश्न चिह्न है कि जहाँ से आलोचना-प्रतिभा का विकास होना चाहिए, वे प्रकाश-स्तंभ आज असाहित्यिक कारणों से बिखर रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी आलोचकों की एक ऐसी टीम तैयार करने में मदद की जो आलोचना को प्राध्यापकीय जीवन का आवश्यक अंग मानती थी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इसके प्रमाण हैं। यह वह काल था जब आलोचना शीर्ष पर आ गयी थी और आलोचक की राय महत्वपूर्ण थी। आलोचक भी अपने दायित्व का निर्वाह करते थे। हाँ, शास्त्रीय चिन्तन को व्यावहारिक रूप देने की प्रक्रिया ठीक होने के बावजूद कहीं-कहीं अति शास्त्रीयता के आग्रह के नाते शुक्ल जी की टिप्पणियाँ कटु हो गयी हैं। किन्तु शुक्ल जी की इस नकारात्मकता से भी हिन्दी को बल मिला। उनके आग्रह चैलेंज थे और हम सभी जानते हैं कि चैलेंज भी प्रेरक होता है। और हिन्दी में तो यही हुआ। लेकिन शुक्ल जी की मर्मभेदी दृष्टि और उनकी आलोचना प्रक्रिया को कोई नकार न सका। और यह

प्रक्रिया भी देन थी उस पश्चिमी आलोचना के साक्षात्कार की, जो आचार्य के लिए चैलेंज था। पाश्चात्य के साक्षात्कार में शुक्ल जी उस बिन्दु पर गौर कर रहे थे जो हमारे साहित्यशास्त्र के लिए उपयोगी थी, न कि उन बिन्दुओं पर जो हमारे यहाँ उनसे बेहतर रूप में मौजूद हैं। आंतरिकता की बात के लिए भारत को क्रोचे का मुँहताज बनने की आवश्यकता नहीं, यहाँ तो रस-सिद्धांत में वह सब मौजूद है, जो क्रोचे हमें देगा। हाँ, आवश्यकता है, उस यथार्थ प्रेरक चेतना की जो विरूप को सुन्दर बना सके और यह चेतना पश्चिम से मिली। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम के समन्वय से एक व्यापक साहित्यिक दृष्टि के निर्माण की पहले से चली आ रही परंपरा को आचार्य शुक्ल ने अपने लोकमंगल सिद्धान्त से इस तरह पुष्ट किया कि वह आज भी हिन्दी आलोचना में प्रवहमान है। दूसरी परंपरा की खोज भी इसे नकार नहीं सकती।

यहीं विशेष रूप से पुनः ध्यातव्य है वह जरूरत जिसके मुताबिक किया जानेवाला साक्षात्कार ही मुनासिब और मुफीद हुआ। बिना जरूरत फैशन के तहत किया जाने वाला साक्षात्कार यहाँ के आलोचना में नहीं चला। शुक्ल जी की इस परंपरा प्रक्रिया का पोषण उनके विरोधी छायावादियों ने भी किया। उनका विरोध शुक्ल जी की प्रबंध-पक्षधरता से था, आलोचना की विवेचनात्मक प्रक्रिया से नहीं। छायावादी रचनाकारों को पश्चिमी रोमानी कवियों की तरह अपनी कविता के बचाव में खड़ा होना पड़ा, यह निश्चय ही पश्चिमी आलोचना के साक्षात्कार के बिना संभव न था और था भी तो उसे पश्चिमी आलोचना से बल अवश्य मिला। लेकिन यह कहना सरासर अन्याय होगा कि छायावाद पश्चिमी रोमांटिक कविता का भावानुवाद या छायानुवाद है। स्थितियाँ ऐसी थी कि छायावादी रचनाएँ अस्तित्व में आईं। युवा वर्ग अनेक प्रकार से निराश और कुंठित था। उसे अकुंठ बनाने के लिए नयी तर्ज की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की आवश्यकता थी। आत्माभिव्यक्ति का यह स्वर फूटा और उसे पश्चिम के साक्षात्कार ने भी बल दिया एवं उत्प्रेरित किया, पर यह नहीं कह सकते कि इसकी संवेदना भी ओढ़ी हुई है। तात्पर्य यह कि छायावाद ने कल्पना और सौन्दर्य की प्रतीति के लिए पश्चिमी

कालरिज और वर्ड्सवर्थ से सहायता अवश्य ली, पर अपनी दर्शनभूमि का साथ उनसे कभी न छूटा। इस प्रकार उन्होंने भी इस तथ्य को रेखांकित किया कि ज्ञान का साक्षात्कार कहीं से भी किया जा सकता है, शर्त यही होनी चाहिए कि हमारी सांस्कृतिक विरासत के विकास में वह कुछ जोड़ सके। छायावाद ने अपने पूर्व की शास्त्रीय समीक्षा को तोड़ा क्योंकि छायावादी कविता शास्त्रीय चौखटों से बाहर पड़ती थी। यह भी कम महत्वपूर्ण तथ्य नहीं कि रोमानी कविता का युग योरप में तो बीत चुका था, किन्तु उसका आगमन हिन्दी में बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में हुआ, तकरीबन सौ वर्षों बाद। इसलिए हिन्दी कविता और समीक्षा ने सौ वर्ष पीछे के योरोपीय रोमानी काव्य और समीक्षा से चेतना ली। समकालीन पश्चिमी कविता से नहीं। साक्षात्कार के पीछे साक्षात्कारकर्ता की जरूरत, यहाँ भी महत्वपूर्ण पार्ट अदा करती है।

लेकिन ज्योंहि यथार्थ परिदृश्य में बदलाव आया और बौद्धिक तर्क और वस्तुनिष्ठता के बिना कोई कल्याणकारक स्थिति नहीं बनती, ऐसा उन्हें महसूस हुआ, छायावादी समीक्षकों ने बाना बदलने की सोची। कहने की आवश्यकता नहीं कि बदलाव को उकसाने और गति देने में मार्क्सवादी चेतना से स्फूर्त प्रगतिशील आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही। धर्म, नैतिकता तथा आभिजात्य संस्कृति के प्रति भावनात्मक विरोध की बात छायावादी समीक्षा में भी थी, पर उस वैयक्तिक रुझान को विचारगत स्थिरता और कठोरता की आवश्यकता थी, प्रगतिवादी आन्दोलन ने यही किया। मार्क्सवाद को केवल काडवेल और लूकाच के नजरों से ही नहीं बल्कि, गोर्की और सार्त्र की नजरों से समवेत देखने का अवसर मिला। वर्ग भेद पर आधारित सर्वहारा की क्रांति का आंदोलन एक गंभीर सांस्कृतिक आंदोलन रहा है जिसने समस्त विश्व के विचारकों को आंदोलित किया। अंतर्राष्ट्रीय प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ने के बाद हिन्दी के कवियों और समीक्षकों को अध्ययन और मंथन का एक विस्तृत आयाम मिला। पंत जैसे छायावादी ने भी आभिजात्य का परित्याग कर दिया। कवीन्द्र रवीन्द्र भी इस आंदोलन से जुड़े, और लगा कि समकालीन स्वतंत्रता आन्दोलन को गंभीरता से आत्मसात करते हुए प्रगतिशीलता का एक सांस्कृतिक आंदोलन

बनेगा। पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। क्यों? इसके विस्तार में यहाँ जाना संभव नहीं। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि अति राजनीतिक प्रतिबद्धतावश मार्क्स का हमारा साक्षात्कार राजनीतिक नेताओं की दृष्टि का इजहार भर बनकर रह गया। यह भुला दिया गया कि रचनाकार का राजनेताओं का पिछलग्गू बनना लेखक के अपने स्वास्थ्य के लिए चाहे जितना मुफीद हो साहित्य और समीक्षा के लिए वह दुखद होता है। क्या यह बताने की आवश्यकता है कि आगे चलकर मार्क्सवादी समीक्षकों ने खुद इस पर गंभीरता से सोचना शुरू किया पर तब तक मार्क्सवाद राजनीतिक आंदोलन बन चुका था। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र पर पहले ही विचार आरंभ हो गया होता तो पंत और दिनकर जैसे प्रखर कवि तिरस्कृत न होते, अज्ञेय सचमुच प्रतिक्रियावादी न बनते।

प्रतिक्रिया होनी थी और हुई। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साहित्यिक दृष्टि से दो ही आंदोलन चल रहे थे, एक प्रगतिशील और दूसरा प्रगतिवादी। प्रगतिशील आंदोलन जनत्रंतीय समाजवाद से जुड़ा हुआ था और प्रगतिवादी आंदोलन फासिस्टों का विरोधी होते हुए भी एक तंत्रीय व्यवस्था के विचार का समर्थक था। भारत में भी प्रगतिशीलों का रुझान पहली विचारधारा की ओर बढ़ रहा था। स्वतंत्रता आन्दोलन अंतिम स्टेज में था। विचारों की टकराहट का होना लाजिमी था क्योंकि इसके माध्यम से ही आजादी के बाद की तस्वीर उभरनी थी और वह उभरी। अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के रिश्तों को लेकर एक नया वैचारिक प्रयोग किया और समानधर्माओं को एक जगह एकचित होने की स्वतंत्रता दी। इस प्रयोग में साहित्य का भला हुआ। कला के प्रति प्रायः निर्जीव हो रही कविता की एकस्वरता से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। प्रयोगवादियों के इस सोच में प्रगतिवाद के तहत बढ़ रही संकीर्णता का तिरस्कार तो है ही, एक व्यापक सोच का मार्गदर्शन भी है। और इसमें अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक सोच के व्यापक साक्षात्कार की प्रेरणा भी निहित है।

यह कहना कतई गलत न होगा कि आजादी के बाद हमारे पश्चिमी साक्षात्कार के परिप्रेक्ष्य में बदलाव आया। सांस्कृतिक समन्वय और विश्वशांति के तहत पश्चिम के प्रति हमारी जिज्ञासा और बढ़ी। साथ ही आत्म संस्कृति

की गहरी आलोचना की तरफ दृष्टि और गहरी तथा सूक्ष्म हुई। कामू, काफ़्का, सार्त्र, मार्क्स, डार्विन, फ्रायड आदि को एक साथ जानने का अवसर मिला। अज्ञेय जिन्हें सर्वाधिक पश्चिम प्रभावित कहा गया है, कहीं भी अपने आलोचन-चिन्तन में भारतीयता से नहीं कटते। वे मार्क्सवाद और अस्तित्व दोनों की शक्ति और सीमा को जानते हैं, इसलिए अपने यहाँ के आत्म दर्शन की ओर लौटते हैं। दरअसल आजादी के बाद के आलोचनात्मक परिदृश्य पर अंकित पश्चिमी समीक्षा के साक्षात्कार की तस्वीर आंदोलनात्मक हो गयी। नयी कविता के समीक्षक जगदीश गुप्त ने नयी कविता को अज्ञेय से काटने की कोशिश कुछ इस तरह की कि प्रयोग से उसका कोई सरोकार ही नहीं था। वह तो स्वयंभू है। लेकिन इसके लिए अज्ञेय कम जिम्मेदार नहीं कहे जा सकते। अपने वैयक्तिक निर्वैयक्तिकता के तहत वे अपना भी एक गुट बना रहे थे। उनमें प्रगतिशील समाजवादी चिन्तक रचनाकार आलोचक भी थे और मार्क्सवादी चिन्तक भी, जो अज्ञेय के अस्तित्ववाद को, व्यक्ति चिन्ता को, अप्रासंगिक मानते थे। इस तरह नयी कविता के साथ आंदोलनों की एक बाढ़ सी आ गयी। 'नयी कविता' को भी पश्चिम की 'न्यू पोइट्री' के गहरे साक्षात्कार से प्रेरणा मिली थी, इसे नकारा नहीं जा सकता। अनुभूति की प्रामाणिकता, यथार्थ बोध, निर्वैयक्तिकता, अजनबीपन भोगवादिता जैसी शब्दावलियों के आगमन में पश्चिम का योगदान है। इतिहास-बोध और मनोविज्ञान के गहरे साक्षात्कार में भी पश्चिम की भूमिका रही है। फ्रायड, एडलर, जुंग के साथ प्रतीकवाद, बिम्बवाद, यथार्थवाद, अतिथार्थवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र आदि सबके प्रभाव हिन्दी काव्य में देखे जा सकते हैं। लेकिन सुबुद्ध हिन्दी समीक्षक की दृष्टि अपने समाज और व्यक्ति पर टिकी रही है। किसिम-किसिम के आंदोलनों के बल पर अपनी पहचान के संकट से जूझनेवालों के प्रति हिन्दी के आजादी के बाद के समीक्षक की कोई सहानुभूति नहीं। वह तो हिन्दी का एक काव्यशास्त्र रचना चाहता है। इस प्रक्रिया में वह पौर्वात्य और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों तथा उनकी रचनात्मक प्रायोगिक परिकल्पना की समवेत परीक्षा करता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नित नयी प्रयुक्त होने वाली तकनीकों

के पीछे भागने के बजाय, वह पश्चिम से उपलब्ध साधनों को अपने रचनात्मक लक्ष्य में प्रयुक्त करना चाहता है। आजादी के बाद उभरे समीक्षकों के नामों पर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि अपने विविध रुझानों तथा तेवरों के बावजूद उनमें से कोई भी अतिवादी नहीं है। अज्ञेय हों, चाहे रामविलास शर्मा हों, हजारी प्रसाद द्विवेदी या आचार्य वाजपेयी हों, मुक्तिबोध हों, नामवर सिंह हों, सब इस लक्ष्य को सामने रखे हुए हैं कि भारतीय संस्कृति और उसकी अस्मिता की रक्षा के लिए आवश्यक है कि उसके उपलब्ध साधनों को पश्चिम के साधनों के वरक्स रखकर देखा जाय। न तो पश्चिमी बहाव में बहना उचित होगा और न ही तिरस्कारपूर्ण पवित्रतावादी बनना। हिन्दी के आलोचकों ने इसे रेखांकित किया है। इसलिए कविता की समीक्षा का व्यापक परिप्रेक्ष्य निर्धारित करने के लिए नामवर सिंह कविता के नये प्रतिमानों की परीक्षा-समीक्षा करते हैं और उनके प्रासंगिक उपयोग के लिए अर्थमीमांसा की प्रक्रिया को रेखांकित भी। आज पश्चिम में भाषा वैज्ञानिक शोधों के तहत साहित्य को भाषा का खेल कहकर जिस तरह भाव की अस्मिता को गौण करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह स्वीकार करने पर तो साहित्य समीक्षा वैज्ञानिक शोध का रूप ले लेगी। डॉ. नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' में इस पर दृष्टि डाली है, भले ही प्रतीक और बिम्ब के संदर्भ में कि वस्तुनिष्ठता का आग्रह इतना नहीं होना चाहिए कि आत्मनिष्ठता साहित्य से नेस्तनाबूद हो जाय। निर्वैयक्तिकता के आग्रही इलियट और अज्ञेय दोनों वैयक्तिकता का सर्वथा तिरस्कार करने में अक्षम हैं। इलियट को तो इसे स्वीकारने में बीस साल लगे थे।

तात्पर्य यह है कि साहित्य एक सार्थक जीवन जीने की कला देता है। उसमें किसी विशेष पक्ष पर दुराग्रही दृष्टि होने से सार्थकता की हानि होती है। भारतीय रस-शास्त्र में, खासतौर से ध्वनि-विचार में, साहित्य के सार्वजनीन लक्ष्य को ध्यान में रखकर शब्द और अर्थ की संगति और प्रभाव-प्रक्रिया को जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, उसे छोड़कर पश्चिमी अनुवादों की ओर भागना कतई उचित नहीं होगा। शैली विज्ञान और वक्रोक्ति को तुलनात्मक दृष्टि से देखकर हम हिन्दी आलोचना का भला करने के साथ अपनी आलोचना-प्रतिभा का विकास

कर सकते हैं तथा परस्पर संपूरकता ला सकते हैं। भारतीय उपनिषदों की मिथ परंपरा का नये सिरे से परीक्षा करने के लिए मिथ के पीछे निहित रहस्य की बुद्धि सम्मत, व्याख्या आवश्यक होती है। साहित्य केवल खाने-कमाने का जरिया भर नहीं है, वह मानवीय संस्कृति के सौन्दर्यबोधी जीवनानुभावों का प्रलेख भी होता है जो अनवरत विकास की परंपरा डालता है। यह काम आलोचकों का है कि प्रासंगिकता का उपयोग करें और उसकी सार्थकता को प्रमाणित भी।

साहित्य में राग आवश्यक है, हाँ द्वेष को भी उपयोजित किया जा सकता है; केवल द्वेष-बोध का परिचय देना हानिकर है- यह बात आलोचक के दिमाग में सर्वोपरि होनी चाहिए। अंततः इस निष्कर्ष के साथ इस आलेख को समाप्त करना समीचीन होगा कि हिन्दी आलोचना की पाश्चात्य समीक्षा के साक्षात्कार की रेखा निरंतर प्रासंगिक बनती हुई संकेत करती है कि हिन्दी आलोचना में इस साक्षात्कार की परिणति लाभकर हुई- इससे हिन्दी आलोचना में अपनी आलोचनात्मक थाती को संभालने में मदद मिली।

संपर्क : 09198844653

धूमिल के गद्य साहित्य पर एक समीक्षात्मक दृष्टि

डॉ. शिव कुमार मिश्र
उपाचार्य, हिंदी विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी

कहा जाता है कि एक अच्छा कवि अच्छा गद्य लेखक भी होता है। कतिपय लोग तो निबंध को कवि की कसौटी भी मानते हैं। सच्चाई जो भी हो इतना तो तय है कि भाषा की दृष्टि से गद्य, काव्य की भाषा के लिए एक प्रयोगशाला जैसा होता है। यह भी सत्य है कि चिन्तन की भाषा गद्य ही होता है। कहना न होगा कि गम्भीर चिन्तन के लिए काव्य को भी गद्य का सहारा लेना पड़ता है। समकालीन कविता में तो सोच के धरातल पर गद्य और पद्य का अन्तर बहुत कम हो गया है। यहाँ समकालीन कविता के प्रखर और बहुचर्चित कवि धूमिल के गद्य पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करना अभीष्ट है।

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' ने एक कवि के रूप में जो कुछ दिया वह हिन्दी के लिए एक विशिष्ट निधि है लेकिन कविता में जीते हुए वे अपने चिन्तन की प्रखरता के लिए गद्य भी लिखा करते थे, जिसमें डायरी, कहानी, लघु कथाएँ, पत्र, कुछ संस्मरण और निबंध हैं। दुर्भाग्य से इनमें से कुछ रचनाएँ तो छिटपुट पत्रिकाओं में छपीं पर अब वे भी अलभ्य हैं। यह एक ऐसा संकट है जिन्हें दूर करने के लिए उनकी सारी गद्य रचनाओं का प्रकाशन एक या दो जिल्द में होना चाहिए ताकि शोधार्थियों को उनकी कविता पर विचार करने के लिए उनके चिन्तन का एक धरातल मिले।

सुखद पक्ष यह है कि उनके सुयोग्य पुत्र डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय इस दिशा में प्रयासरत हैं। बहरहाल जितना कुछ मैं पा सका उसके आधार पर मैं उनकी कहानियों और दो विशिष्ट निबंधों तक अपने को सीमित करूँगा। इस निबंध की सीमा को देखते हुए यह आवश्यक भी है।

धूमिल ने कुल चार कहानियाँ लिखीं— 'रतना', 'नया माली', 'कुसुम दीदी', 'फिर भी वह जिन्दा है'। इसमें अंतिम कहानी 'शाकी' १९६० में छपी थी जो अधूरी है, फिर भी वह उनके वैचारिक धरातल का खुलासा अवश्य करती है। 'रतना' कहानी एक दलित जाति के रामरतन अर्थात् रतना के संघर्ष को दिखाती है। वह अछूतोद्धार के लिए अपने दलित जाति का मुखर मुखिया बनकर उभरता है। उसका संघर्ष धूमिल के अनवरत संघर्ष की याद दिलाता है। इस कहानी का मूल मुद्दा है दलितों का मन्दिर में प्रवेश करना जो धूमिल के काल में परिवेशजन्य एक बड़ा मुद्दा था। सम्भवतः इसी से प्रेरित होकर उन्होंने यह कहानी लिखी। सर्वविदित है कि सवर्ण और दलित को एक करने के लिए यह लोहिया जैसे प्रखर विचारों का एक प्रतीक सा बन गया था लेकिन हमारे देश में दलित और सवर्ण की एकता का मुद्दा दियासलाई की तीली-सा जलकर बुझ जाता है। सम्भवतः उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचने का समय कुछ दूर ही है, परन्तु यह सबसे बड़ा हल है जो परस्पर जातिगत खाई को पाट सकता है।

कहानीगत 'रतना' अपने संघर्ष के बल पर मंदिर में प्रविष्ट तो हो जाता है लेकिन पुजारी की जड़ चेतना को वह कतई रास नहीं है। फलस्वरूप मारपीट होती है और रतना घायल हो जाता है। कहानी में एक ऐसा नाटकीय मोड़ आता है जो धूमिल की सोच को संवेदनात्मक दिशा देता है। जो हृदय परिवर्तन की दिशा में सर्वाधिक कारगर औजार बन सकता है। बेहोश पड़े रतना को देखकर पुजारी की सारी जड़ता काफूर हो जाती है। वे बार-बार रतना को जगाने का प्रयास करते हैं और इसी प्रयत्न में उनकी आँखों से झर्झर गिरते आँसू रतना के चेहरे पर पड़ते हैं, उन्हें अपनी करनी पर पश्चाताप होता है। उनके आँसुओं से भीगी रतना की आँखें खुल जाती हैं और वह देखता है कि पं. रामरतन तिवारी 'पुजारी' के हिंसक प्रयास बेमानी प्रतीत होते हैं। अहिंसा के समक्ष हिंसा का यह पराभव लेखक के इन शब्दों में मुखरित होता है—

'रामरतन उसका सिर गोद में लेकर फफक कर रो पड़े और कहा देख रतना देख कहीं है तू! पंडित ने झकझोरते हुए कहा धीरे-धीरे रतना की आँखें खुलीं। भगवान की पवित्र प्रतिमा अनुनय, शांति... क्षण भर को वह जैसे अपनी सारी पीड़ा भूल गया। आँखों के कोरों से दो बूँद आँसू छलक पड़े, अब तक वह देखता रहा और पुजारी के आँखों से गंगा-जमुना बहती रही। आँसू रतना के मस्तक पर गिरता रहा। जैसे वे देवपिण्ड को नहला रहे हों।' (धूमिल की रचनाधर्मिता भाषिक एवं शैल्पिक अनुशीलन) अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, डॉ. अरुण पाण्डेय कहानी का यह अंत मर्मस्पर्शी है, इसे कहा नहीं जा सकता, महसूस किया जा सकता है। सम्भवतः धूमिल चिल्ला-चिल्ला कर थक गये थे और इस कहानी में संवेदना को जगाने का विचारणीय प्रयास करते हैं।

धूमिल की दूसरी कहानी निम्न वर्ग और उच्च वर्ग के समकालीन सम्बन्धों, व्यवहार, सोच, रहन-सहन आदि के बीच जो अन्तर है उसे संवेदनात्मक धरातल पर पाटने का प्रयास करती है। पहली कहानी की तरह संवेगों की ओर लौटकर उभारना उन्हें एक कारगर औजार लगता है, क्योंकि धूमिल जहाँ कहीं भी हो पाठकों में एक गहरी

संवेदना उभारने का प्रयत्न करते हैं। सम्भवतः कहानी, कथा को प्रखरता से उभारने में और जन-जन तक उसे पहुँचाने में धूमिल को अभीष्ट लगी हो। इस कहानी का कथ्य भी पहली कहानी की तरह एक नाटकीय दिशा परिवर्तन ही है। ज्ञान नामक माली अपने मालिक जगत नारायण के बगीचे में इतना दत्तचित्त होकर कार्य करता है कि उनकी बगिया लहलहा उठती है। माली की कार्यकुशलता और उससे फूली हुई क्यारियों को देखकर वे प्रसन्न होते हैं, लेकिन बड़प्पन की एक कील उन्हें कभी-कभी उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है। निम्न वर्ग के श्रम का शोषण करके सब कुछ अपने आनन्द में लुटा देने वाले जगत नारायण केवल वाचिक सहानुभूति प्रकट करते हैं, वे कभी भी ज्ञान की; उनके बगीचे के प्रति जो लगाव है उसको पहचान नहीं पाते। वे उसके सारे श्रम की प्रेरणा उसकी छोटी बच्ची नातिन मंगला को गुलाब का एक फूल तोड़ने पर एक चाटा मार देते हैं और माली अवाक मूकदर्शक बना सबकुछ देखता रहता है। उसके दिल पर जो चाटा लगा वह उसकी निष्ठा को झकझोर देता है। उसके दिमाग में उथल-पुथल मच जाती है। द्वन्द्वचित्तता में उलझकर वह रह जाता है। एक तरफ उसका लगाव उन फूलों से है जिसे वह एक बारगी छोड़ नहीं पाता दूसरी तरफ उसकी आँसू बहाती चोट खायी नातिन है, किसका पक्ष ले। फलस्वरूप उसके समाधान का मार्ग सपनों में ही मिलता है सम्भवतः यह धूमिल के सोच का सपना है। वह स्वप्नावस्था में देखता है— एक-एक पत्ता, एक-एक फूल, एक-एक जल झुलस-झुलस कर धरती पर गिर रहे हैं। तब ज्ञान अपने को रोक न पाया 'रोको यह सब वह पागल सा उसी ओर दौड़ पड़ा और तभी एक गोला उसके ऊपर गिरा। भभक कर उसका शरीर जल उठा।' तभी उसकी निद्रा भंग हुई और उसने मन ही मन कहा— कितना भयानक सपना था। (वही)

अन्ततः भयानक सपने के बीच उसकी संवेदना फूलों की ओर झुकती है और वह जगत नारायण के काम को छोड़ नहीं पाता। एक चाटे भर के लिए उसके नातिन के भरण-पोषण के लिए मिलने वाली एक मुश्त राशि को छोड़ना और बुढ़ापे में ठोकरें खाना अनुचित लगा। कहीं न

कहीं उसे यह भी लगा कि मालिक को एक अवसर दिया जाना चाहिए इस सपने का यह बड़ा आशावादी पहलू लगेगा।

धूमिल की तीसरी कहानी 'कुसुम दीदी' एक ऐसी स्त्री की कहानी है, जो कम उम्र में प्यार कर भावना के आवेग में बहने वाली स्त्री विमर्श की एक प्रखर कहानी है। कुसुम दीदी यह नहीं समझ पाती कि जिसके साथ वह जा रही है वो किस आधार पर उन्हें वैवाहिक नारी का दर्जा दे पायेगा। अंधी-भावनाओं ने उनके सारे सोच को कुंठित कर दिया था। एक बच्चे की माँ होकर परित्यक्ता नारी की क्या-क्या दुर्दशा हमारे समाज में हो सकती है इस पर विचार करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। प्रेमी के अमानवीय व्यवहार से क्षुब्ध होकर वे केवल पुत्र को लेकर जीती है, इसके लिए उन्हें दैनिक व्यापार भी करना पड़ता है। यह कहानी जितने ज्वलंत मुद्दे उभारती है और हमारे चिन्तकों, बुद्धिजीवियों और नारी विमर्श के उन्नायकों के समक्ष एक सवालिया निशान पर खड़ी होती है।

चौथी कहानी 'फिर भी वह जिन्दा है' अपने अधूरेपन में भी सर्वाधिक समभाव का मुद्दा बड़ी गहराई से उभारती है जिससे प्रतीत होता है कि यह धूमिल की एक लम्बी कहानी की यात्रा थी तो किसी कारणवश पूरी नहीं छप पायी। धूमिल की चारों कहानियों पर समवेत विचार करें तो महसूस होता है कि वे अपनी कविता के प्रखर राजनीतिक विचारों से हटकर सामाजिक पक्षों और उनसे जुड़ी समस्याओं की ओर उन्मुख हैं।

धूमिल एक सशक्त निबंधकार भी थे अपने निबंधों में उन्होंने अपने व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप छोड़ी है। सम्प्रति उनके दो निबंधों की चर्चा करना यहाँ समीचीन होगा जो बहुचर्चित रहे हैं। पहला निबंध है 'राम की शक्ति पूजा: सीमा संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में' और दूसरा निबंध है 'तुलसी और आधुनिक लेखकों की समस्याएँ'। कहना न होगा कि पहला निबंध सन् १९६२ के चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में लिखा गया। सर्वविदित है कि रावण से भीषण संघर्ष करने के बाद राम को चिन्तन के लिए विवश होना पड़ा। रावण के शौर्य और उसके संसाधनों की प्रचुरता के फलस्वरूप राम को भी यह महसूस हुआ था कि बिना शक्ति की आराधना के उसे पराजित करना

और सीता को उसकी कैद से मुक्त कराना लगभग असंभव है। अतएव वे शक्ति की आराधना में तल्लीन हो गये और उनकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर स्वयं शक्ति की देवी ने उन्हें वरदान दिया था। निराला की यह कविता प्रकारान्तर से आजादी की लड़ाई के लिए संघर्ष करने वाले और देश की मुक्ति के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देने वालों के लिए एक प्रेरणास्रोत थी। अकारण नहीं कि धूमिल का निबंध राम की शक्ति पूजा के मर्म को समझाते हुए रावण के समान बर्बर और विस्तारवादी चीन के विरुद्ध अपनी शक्ति को संजोने का और पुनः संघर्ष में कूद पड़ने का एक आह्वान है। एक जागरूक लेखक भला भूमिजा और मातृभाषा को कैसे भूल सकता है। दोनों ही पर अपने जमाने में गम्भीर संकट था जिससे उबरने का एकमात्र तरीका था कि हम केवल शान्ति के दूत बनकर रह गये थे और अपना शौर्य खो चुके थे। उनके लिए यह लेख शक्ति संचरण का काम करता है। यह स्मरण भी कराता है कि शान्ति के कबूतर उड़ते हुए भी अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए हर प्रकार से संगठित और किसी भी स्थिति से सामना करने के लिए तैयार रहें। इस लेख का एक अंश हमारा ध्यान आकर्षित करता है 'केवल अक्षांश-देशान्तरों का अंतर। किन्तु कितना आश्चर्यजनक है कि शताब्दियों बाद काल देवता ने दिक्कालिक विलोम के साथ वही इतिहास फिर दुहराया है जो दाशरथि राम के संदर्भ में विघटित हुआ था। अपनी समस्त मान्यताओं के साथ उपलब्धियों की सहायता में विरत लोकतंत्र की पावन आस्था से संचालित राम का वन योगी वेश सर्वजाति की एक सूत्रता का सम्मोहन, आदिवासी वनखण्डी-निवासियों को स्नेहसिक्त करती मर्यादा पुरुषोत्तम की प्रेम-माधुरी और सहसा 'भूमिजा का अपहरण', (वही)।

निःसंदेह धूमिल का चिन्तन और उसके अनुरूप शब्दावली यह साबित करने के लिए काफी है कि काश धूमिल कुछ दिनों और जिन्दा रहते तो हिन्दी के निबंध साहित्य को भी और समृद्ध बना देते। यह लेख इस संभावना को भी जगाता है कि संघर्षशील लेखक अपनी भारतीय थाती को भूलकर केवल विमर्शों और

अन्तहीन बहसों में उलझकर न रह जाएँ उनसे कुछ दोहन करें जैसा निराला ने किया।

धूमिल का दूसरा निबंध है- 'तुलसी और आधुनिक लेखकों की समस्याएँ' एक संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख है जो तुलसी जयंती के अवसर पर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' एवं 'साहित्य लोक' के तत्त्वाधान में आयोजित गोष्ठी में पढ़ा गया था। उस संगोष्ठी की अध्यक्षता जाने-माने विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कर रहे थे। इस लेख में इतना कुछ था कि उस पर तीन दिनों तक बहस चलती रही। विस्तार में न जाते हुए यहाँ इतना ही कहना उचित है कि लेखक ने एक रचनाकार के दायित्व को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है। जिसके अभाव में लेखक अप्रासंगिक हो जाता है। तुलसीदास को लेकर अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ भारतीय समाज में चल रही हैं लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी अपने समय की परिस्थितियों की एक सशक्त देन हैं। जिन्होंने अपने अनुभवों और विचारों से लोक मानव ही नहीं धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विचारधाराओं को भी नयी प्रेरणा दी। इसलिए तुलसी के इस गुरुतर दायित्व को बड़ी गंभीरता से आंकते हुए धूमिल ने अपने समय के लेखकों को यह बताया कि तुलसी जैसा युगचेता होना चाहिए। धूमिल यह बताते हैं कि युग की स्थितियों के साथ लेखक को बड़ा सजग विचारक और विवेकवान होना चाहिए तभी वह तुलसी को गहराई से समझ सकता है और उनसे प्रेरणा ले सकता है। सामाजिक बोध, दंत कथाओं पर

विश्वास का सूक्ष्म अध्ययन और अपने लेखन के लिए बोलचाल की भाषा का चयन तुलसी की वे विशिष्टताएँ हैं जिन्हें भूलकर हम आगे नहीं बढ़ सकते। तुलसी को तो केवल सत्य और असत्य से लड़ना था जिसके प्रतीक राम और रावण थे। यहाँ तो अनगिनत समस्याओं से जूझना है जो तुलसी के समक्ष न थी। अतएव हम तुलसी की लीक पर चलकर यह राय नहीं कर सकते किन्तु अपनी लीक बनाने के लिए उनसे प्रेरणा अवश्य ले सकते हैं। इतिहास को भूलकर कोई संघर्ष नहीं होता वह वर्तमान और भविष्य का प्रेरक होता है। तुलसी एक ऐसे इतिहास हैं जिसकी अवहेलना नहीं हो सकती। धूमिल की भाषा और शैली को रेखांकित किये बिना तो यह निबंध अधूरा ही रह जायेगा अतः संक्षेप में उनकी विशिष्टताओं की ओर इंगित करना आवश्यक है।

धूमिल की गद्य भाषा और काव्य भाषा के चयन में तो कुछ अन्तर नहीं है, अन्तर है तो इस बात में कि गद्य में धूमिल का चिन्तन और विचारक रूप सामने आता है, फलस्वरूप वे विषयानुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं। चुटीलेदार मुहावरे उनके गद्य में भी हैं और संस्कृतनिष्ठ भाषा से लेकर लोक भाषा का प्रयोग भी वहाँ द्रष्टव्य है। धूमिल की शैली वार्तालाप और नाटकीयता से भरी है, केवल निबंधों में उनका व्यक्तित्व उनकी भाषा में उभरता है, जहाँ शब्दावलि और वाक्य पाठक को सोचने के लिए विवश करते हैं। धूमिल भाषा और शिल्प के धरातल पर गद्य में भी अकेले हैं।

संपर्क : 09415868072

समीक्षा की वैचारिकी एवं मुक्तिबोध

डॉ. हरेराम पाठक

डी लिट्, एसोसिएट प्रोफेसर

एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष,

डिगबोई महिला महाविद्यालय,

डिगबोई, आसाम

मुक्तिबोध मूलतः कवि एवं लेखक हैं। कविता-लेखन उनका स्वाभाविक धर्म है, परन्तु उन्होंने समीक्षा के भी सिद्धान्त गढ़े हैं। समीक्षा संबंधी उनके सिद्धांत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी अथवा डॉ. नगेन्द्र जैसे साहित्य-समीक्षकों जैसे नहीं हैं। इन समालोचकों ने भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों का गहन अध्ययन कर समीक्षा की स्थूल मान्यताओं को स्थापित करने का प्रयास किया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगल की अवधारणा, रस विवेचन आदि हो अथवा डॉ. नगेन्द्र की रस सिद्धांत की नूतन व्याख्या एवं स्थापनाएँ हों अथवा हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अवधारणा पर आधारित समालोचना, ये स्थापनाएँ आलोचना के स्थूल सिद्धांतों पर हमारा ध्यान केन्द्रित करती हैं एवं हमें पुनः पुनः सोचने-विचारने के लिए अवसर भी देती हैं; पर मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि स्थापित समीक्षकों की कमजोरियों (मुक्तिबोध की दृष्टि में) पर अंगुली उठाने एवं उन्हें सावधान करने की दिशा में अग्रसर होने वाली एक सामयिक परिणति का परिचायक है। वे लिखते हैं— “कवि और लेखक होने के नाते, समीक्षा-साहित्य की वर्तमान प्रवृत्तियों पर मेरी नजर जाना स्वाभाविक ही है। मुझे समीक्षकों की स्थिति पर दुःख होता है।” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ. ९)

जाहिर है, मुक्तिबोध को समीक्षकों की स्थिति पर दुःख होता है, अर्थात् उनकी समीक्षा मुक्तिबोध की दृष्टि में अनुकूल एवं व्यावहारिक नहीं है, अतः ऐसी समीक्षा पर उन्हें दुःख होता है। समीक्षकों की इस दुःखद स्थिति से प्रेरित होकर ही मुक्तिबोध समीक्षा की कमान संभालने के लिए मजबूरन आगे बढ़ते हैं। मसलन, उनका ध्यान समीक्षा की किसी नवीन मान्यता को स्थापित करने अथवा साहित्यिक कृतियों की तात्त्विक समीक्षा करने की ओर नहीं है, बल्कि स्थापित समीक्षकों को समीक्षा के तरीकों पर पुनर्विचार कराने की ओर है। यही कारण है कि समीक्षा की समस्याओं पर जब वे अपना विचार रखते चलते हैं तो उनकी दृष्टि कृतियों की समीक्षा पर नहीं, बल्कि समीक्षकों की समीक्षा-दृष्टि पर टिकी रहती है। बहुत दूर तक सोचने पर ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध ने ‘कामायनी’ की भी समीक्षा नहीं की है, उस पर पुनर्विचार भर किया है। उनकी पुस्तक का नाम ही है— ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’। समीक्षा में भी वैचारिक

स्थापनाएँ होती हैं, पर वे सारी स्थापनाएँ कृति के भीतर से होती हैं। कृति में ही विचार, प्रतीक, बिंब, रस, अलंकार आदि ढूँढ़े जाते हैं एवं तदनुसार कृतिकार की स्थापनाओं के अनुकूल उसकी समीक्षा की जाती है। ऐसा करते वक्त कृतिकार की रचनात्मक कमजोरियों एवं उनकी उपलब्धियों का भी प्रसंगतः उल्लेख किया जाता है, पर मुक्तिबोध ने कामायनी की आलोचना अथवा समीक्षा कम, उस पर पुनर्विचार अधिक किया है। उनके विचार अपने हैं। यह जरूरी नहीं है कि स्वयं प्रसाद जी के विचारों से उनके विचार मेल रखते हों। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में ऐसा ही हुआ भी है। वहाँ 'मनु', प्रसाद जी के अनुसार 'मन' के प्रतीक नहीं, बल्कि 'पूँजीवाद' के प्रतीक हैं—*“कामायनी के संबंध में बात करते वक्त हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रसाद इड़ा, श्रद्धा और मनु आदि की ऐतिहासिक सत्ता भले ही स्वीकार करें, काव्य ग्रंथ में इन तीनों का तो मानव-चरित्र प्रस्थापित हुआ है, उसी के आधार पर कामायनी की व्याख्या की जा सकती है।”* (कामायनी : एक पुनर्विचार)

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुक्तिबोध इड़ा, श्रद्धा और मनु का मानव-चरित्र के रूप में चित्रण करने के पक्षधर हैं। बात भी ठीक है। प्रसाद जी ने भी मानव चरित्र के आधार पर ही इन तीनों की प्रतीकात्मक व्याख्या करने का संकेत दिया है। पर यह व्याख्या प्रतीकात्मक भर है। 'मनु' मन के प्रतीक हैं, मन के मान ही वे अस्थिर हैं। यह मन आज के यांत्रिक युग में कहीं और अधिक दिग्भ्रमित हो उठा है। उसका व्यग्र मन श्रद्धा को छोड़कर इड़ा के माया-पाश में जा अटकता है, फिर अंततः श्रद्धा की गोद में ही उसे शांति मिलती है। भटका हुआ मन आराम महसूस करता है। प्रश्न उठता है यह सीधी-सी व्याख्या जब स्वयं कृतिकार द्वारा ही संकेत रूप में कह दी गई है तो फिर उस संकेतार्थ को दरकिनार कर मनु को 'पूँजीवादी व्यक्तिवाद का पोषक' श्रद्धा को 'घनघोर व्यक्तिवाद' एवं इड़ा को 'हासग्रस्त सभ्यता की उन्नायिका' कहना कहाँ तक उपयुक्त है ?

मेरी समझ से ऐसा करने के पीछे मुक्तिबोध का एक मात्र आशय यही है कि वे कामायनी की आलोचना

नहीं, बल्कि उस पर पुनर्विचार कर रहे हैं। पुनर्विचार नितांत निजी होता है, पर आलोचना कृति में निहित कृतिकार की दृष्टिभंगिमा को ध्यान में रखकर की जाती है। विचार, पुनर्विचार बुरा नहीं है। बहुचर्चित ग्रंथों पर विद्वानों द्वारा पुनर्विचार होता रहता है। यह एक प्रकार से चिंतन, मंथन की प्रक्रिया है। 'रामचरितमानस' पर कई दृष्टियों से पुनर्विचार किया गया है। पुनः पुनः विचार करने से किसी रचना-विशेष के संबंध में कई महत्वपूर्ण जानकारियाँ नये रूप में उजागर होती हैं। नित-नूतन तथ्यों का अन्वेषण करना साहित्य की जीवंतता को गतिमान रखने में काफी सहायक होता है। पर ऐसा करते वक्त सार्थक एवं प्रतिस्थापित परंपरागत मूल्यों एवं मान्यताओं की जड़ खोदने से परहेज करना चाहिए। नयी मान्यता स्थापित हो, पर पुराने की सार्थकता को जबरन ध्वस्त कर नहीं। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' को हमें इसी रूप में देखना चाहिए। इसमें मुक्तिबोध का कामायनी संबंधी एक विचार भर है, अंतिम सत्य की प्रस्थापना का दावा कतई नहीं है।

यह अच्छी बात है, अंतिम सत्य की प्रस्थापना का दावा नहीं है। ऐसा दावा कोई समीक्षक कर भी नहीं सकता, क्यों साहित्य में अर्थ-दर-अर्थ करते चलने से बहुत लूप होल्स होते हैं। मुक्तिबोध द्वारा लिखित 'समीक्षा की समस्याएँ' पढ़ने से ऐसा लगता है, मानो समीक्षा को वे बहुत बड़े फलक पर सोच-विचार रहे हों। किसी खास विचारधारा से बिल्कुल परे होकर। पर बात ऐसी नहीं है, मार्क्सवादी चिंतन उनका पीछा नहीं छोड़ता है। उससे लाख दामन बचाकर चलने के बावजूद ऐसा जान पड़ता है कि मुक्तिबोध मार्क्सवादी चिंतन से स्वयं को मुक्त करने में सफल नहीं हो सके हैं। 'मनु' को 'पूँजीवादी व्यक्तिवाद' का प्रतीक मान लेना, इस तथ्य की परिपुष्टि करता है। आगे भी इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। अस्तु, मुक्तिबोध तत्कालीन समीक्षकों पर कठोर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—*“मुझे बार-बार लगता है कि वे खुद जिन्दगी से बहुत दूर हैं। वे मध्यवर्ग जनसाधारण के भाव क्षेत्र से भी दूर हैं। नये प्रकार के समीक्षक-विचारक (अब उन्हें नया नहीं कहा जा सकता), जो बनते हुए साहित्य की समीक्षा के क्षेत्र में दिशा-निर्देश करते रहते हैं,*

उनमें से कुछ मुझे त्याज्य प्रतीत होते हैं। मुझे बार-बार लगता है कि वे लेखक को जिन्दगी के तजुबों से हटा देना चाहते हैं।” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ. ९) यहाँ मुक्तिबोध जिन नये समीक्षकों पर अपनी भूकुटी टेढ़ी किये दिखाई दे रहे हैं, उन्हें अनुमान से समझा जाय तो रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और विजयदेव नारायण साही जैसे तत्कालीन समीक्षकों की उंगली उठना लाजिमि है। ‘समीक्षा की समस्याएँ’ का रचना काल (सन् १९६३ संभावित) बताया गया है और ‘कविता के नये प्रतिमान’ का प्रथम संस्करण का समय सन् १९६८ ई. है जिसमें नामवर सिंह ने मुक्तिबोध को बहुत ही आदर के साथ स्मरण किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मुक्तिबोध और नामवर सिंह की साहित्यिक समझ बहुत नजदीकी की रही है, पर रामविलास शर्मा और विजयदेव नारायण साही का मुक्तिबोध की साहित्यिक समझ से कुछ विभेद अवश्य रहा है। अतः ये दोनों मुक्तिबोध के निशाने पर रहे हैं।

‘समीक्षा की समस्याएँ’ में मुक्तिबोध ने, समीक्षा लिखते वक्त जिन मर्यादाओं का पालन करना चाहिए, उसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। इसीलिए मैंने उनकी आलोचकीय वैचारिकी पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

मुक्तिबोध इस बात से सदैव पीड़ित दिखाई पड़ते हैं कि प्रगतिवादी समीक्षक संगठित एवं सम्मिलित होकर अपना दायित्व नहीं निभा रहे हैं। इस प्रकार की पीड़ा उसी व्यक्ति को हो सकती है जिसे प्रगतिवाद में आस्था और विश्वास हो, परन्तु उसके सामने ही उसका (प्रगतिवाद का) विनाश दिखाई दे रहा हो। मुक्तिबोध सीधा प्रहार करते हुए लिखते हैं— “डॉ. रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, श्री प्रकाशचन्द गुप्त, श्री अमृत राय और डॉ. नामवर सिंह तथा इनके अतिरिक्त यशपाल और नागार्जुन जैसे लेखक कलाकार क्या कभी इकट्ठा होकर, सम्मिलित रूप से, काम नहीं कर सकते थे? क्या इस संबंध में, इस क्षेत्र में, संगठित और सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता नहीं है?” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ. २४)

प्रगतिवादियों के इतर जो लेखक हैं उन्हें मुक्तिबोध प्रतिपक्षी मानते हुए लिखते हैं— “ध्यान में रखने की बात है कि लेखकों से ‘कलह’ करके, ऐसे

लेखकों से जिन्हें पूरा-का-पूरा विपक्षी नहीं कहा जा सकता, जो अपनी विकास-यात्रा पर आगे बढ़ रहे हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य आपकी विचारधारा को और पूर्णतः समाप्त कर देना है।” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ. २६)।

इस प्रकार मुक्तिबोध वामपंथी मोर्चे की सुरक्षा के प्रति काफी सतर्क लगते हैं और उनकी यही सतर्कता उनकी समीक्षा में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। एक बात अवश्य है कि उनकी समीक्षा-दृष्टि भले ही प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित हो, साहित्य के प्रश्नों को वे हल्के ढंग से लेने के पक्षपाती कभी नहीं हैं। वे यह नहीं मानते हैं कि प्रगतिवादी समीक्षा में ही समीक्षा की सारी पद्धति सिमटी हुई है। उन्हें भी यह अफसोस है कि साहित्य का फलक जितना विस्तृत होना चाहिए, जितनी ईमानदार अभिव्यक्ति होनी चाहिए, उतनी न तो कभी हुई है, न भविष्य में ही हो सकती है। साहित्य की लेखकीय अथवा समीक्षकीय अपूर्णता। मेरे विचार से, शायद इसलिए होती है, क्योंकि मानव का चिंतन ही वर्गीय है, एक खास सांचे में बना, ढ़ला है। मुक्तिबोध लिखते हैं— “यह भी पाया जाता है कि हमलोग, अपने से जो भिन्न हैं और भिन्न प्रकार के मनोविज्ञान को प्रदर्शित करता है, उसको जल्दबाजी में प्रतिपक्षी समझ लेते हैं और उसके बारे में यों ही विरोध भाव बना लेते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हम उसकी रचनाओं तक की उपेक्षा कर जाते हैं, यद्यपि उसकी रचनाएँ उपेक्षा योग्य नहीं होती।” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ. २८) वे फिर लिखते हैं— “साहित्य के प्रश्नों को हल्के ढंग से नहीं लिया जा सकता। उसका समुचित, विस्तृत मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टिपूर्ण उत्तर प्रदान करना आवश्यक होता है। लेकिन वैसा नहीं किया गया, नहीं किया जाता।” (पृ. २८)

ऊपर की बातों को ध्यान से पढ़ने पर ज्ञात होता है कि मुक्तिबोध इस बात को स्वीकार करते हैं कि साहित्य में अपने से भिन्न विचारधारा वाले साहित्यकारों का भी सम्मान करना चाहिए। उन्हें प्रतिपक्षी न समझकर उनके लेखन का गंभीर अध्ययन करने के पश्चात ही, उनके संबंध में अपनी विचारधारा बनानी चाहिए। परन्तु दुःख एवं आश्चर्य की बात है कि हिन्दी साहित्य में वामपंथी

विचारधारा वाले समीक्षकों ने अपने खेमे के साहित्यकारों की ही समीक्षा की है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि वामपंथी विचारधारा से इतर साहित्यकारों के साथ न्याय ही नहीं हो पाया है, भले ही उनकी रचना काफी उत्कृष्ट क्यों न रही हो। तुलसी, मीरा, कबीर, सूर आदि भक्त कवियों की 'धर्म एवं भक्ति को अफीम' मानने वाले वाममार्गी समीक्षकों ने, समीक्षा की भी तो अपनी विचारधारा को जबरन उन पर थोपकर ही उनकी भक्ति भावना, जो उन कवियों की मूल उत्स रही है, उस ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। आधुनिक काल में, प्रगतिवाद के आगमन के बाद, प्रगतिवादी समीक्षकों के कोपभाजन बने साहित्यकारों की यदि लिस्ट बनाई जाय तो उसकी संख्या बहुत विस्तृत होती।

यही कारण है कि मुक्तिबोध विचारधारा के दायरे में कैद साहित्य-समीक्षकों को अपनी विचारधारा के खोल से बाहर निकलकर उसका क्षेत्र विस्तार करने की सलाह देते हैं। वे लिखते हैं— *“जिस प्रकार सुदूरतम को और सूक्ष्मतम को पाने के लिये नव-जीवन यंत्रों का विकास होता आया है, पुराने ज्ञान में नवीन ज्ञान को जोड़कर, ठीक उसी प्रकार हमारी सिद्धांत व्यवस्था का भी विकास आवश्यक है। और वह किया भी जाता है।”* (समीक्षा की समस्याएँ पृ. २९)

वे सिद्धांत-ज्ञान अर्थात् विचारधारा को पूर्ण नहीं मानते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य के बौद्धिक विकास के साथ-साथ उसके पूर्व निर्धारित सिद्धांत अथवा विचारधारा में भी परिवर्तन लाना आवश्यक है— *“केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से यथार्थ का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। मनुष्य के बौद्धिक उपादान क्रमशः विकसित होते हैं, बदलते हैं, किन्तु वे यथार्थ के गति के साथ ही बदलते रहेंगे, विकासमान होंगे, यह आवश्यक नहीं होता।”* (वही, पृ. २९) मुक्तिबोध के यह कहने का तात्पर्य यही है कि बदलते परिवेश के अनुसार प्रगतिवादी समीक्षकों अथवा लेखकों को अपने चिंतन क्षितिज को विकसित करना होगा। इस प्रकार का चिंतन अकेले मुक्तिबोध ही करते हैं, ऐसी बात नहीं है; शमशेर, नामवर सिंह, अरुण कमल आदि सभी वाममार्गी चिंतकों में यह विचार बार-बार उभरते देखा गया है, लेकिन आश्चर्य की बात है, इस प्रकार के विचार, विचार-

मात्र तक ही सीमित रह गये हैं। उसे कार्य के रूप में परिणत करने के लिए कोई आगे नहीं आता है। जब रामविलास शर्मा अपने सीमित विचारधारात्मक सोच से आगे बढ़कर वैदिक चिंतन एवं भारत की पारंपरिक सोच को महत्त्व देने लगे थे तो उन पर वामपंथियों ने न जाने क्या-क्या आरोप लगाए और उन्हें अपने खेमे से बाहर जाने का रास्ता दिखाया। अस्तु, मुक्तिबोध प्रगतिवादियों की कमजोरी एवं उनसे हुई साहित्यिक क्षति को बखूबी जानते थे। इसीलिए उन्होंने कहा है कि *“प्रगतिवादियों ने कलाकार के दायित्व के प्रश्न को सामने उपस्थित करके लेखकों के अंतःकरण को, वस्तुतः नये प्रगतिवादी संस्कार देना चाहे थे। परन्तु उन्होंने यह काम इतने भदे ढंग से किया कि उसका बहुत कुछ प्रतिकूल परिणाम हुआ।”* (पृ. ३१) मुक्तिबोध प्रगतिवादियों की कोरी सैद्धान्तिकता की तुलना सत्य-नारायण व्रत कथा से करते हैं। वहाँ कोरा सिद्धांत है, कर्म ही बहुत पीछे ठेल दिया गया है। गरीबों के प्रति हमदर्दी है, अत्याचार से विरोध है, पर अमीर-दर-अमीर बने रहने का शौक भी है, अत्याचार-व्याभिचार की कमाई से अपनी शान-शौकत में इजाफा करने का लोभ भी है। मात्र प्रवचन करना प्रगतिवादियों का धर्म रह गया है— *“समीक्षा की इस जीवन-विमुखता और जीवन-निरपेक्षता के कारण उसके (प्रगतिवादियों के) सत्यात्मक प्रवचन सत्य नारायण की कथा मालूम होते हैं।”* (पृ. ३२)

मुक्तिबोध यह मानते हैं कि समीक्षक को कला-सौन्दर्य और जीवन मूल्य दोनों का संतुलन बनाए रखना होगा तभी उसकी समीक्षा कालजयी हो सकेगी। वे लिखते हैं— *“यह सही है कि प्रत्येक समीक्षक के अपने-अपने आग्रह होंगे, अपने-अपने अनुरोध होंगे। किन्तु इन आग्रहों और अनुरोधों को सार्थकता तभी प्राप्त होगी जब वह आग्रह वास्तविक कलात्मक-मूल्यों पर आधारित होगा। इन आग्रहों और अनुरोधों में सार्थकता तभी आएगी जब समीक्षक स्वयं भीगा हुआ हो, वृथा भावुक या वृथा-बौद्धिक न हो।”* (पृ. ३३)

समीक्षक के भीगे होने की बात बहुत अर्थ रखती है। वही समीक्षक भीग सकता है जिसमें सैद्धान्तिक

आवेश का अनावश्यक प्रवाह न हो। अपने सीमित सिद्धांतों अथवा विचारधारा के आवेश में प्रवाहित होने वाला समीक्षक रचनाकार की रचनात्मक गहराई में कहाँ तक डूबेगा, कहाँ तक भीगेगा इसमें संदेह है। संदेह के इस भँवरजाल में प्रगतिवादी समीक्षक आज तक दिशाहीन चक्कर काटते आ रहे हैं।

इन तथ्यों पर बहस करते वक्त यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आखिर समीक्षा है क्या? इसका उत्तर भी मुक्तिबोध के ही शब्दों में देख लें तो उत्तम होगा। मुक्तिबोध लिखते हैं— *“यदि साहित्य सृजन एक संघर्ष है— अभिव्यक्ति के मार्ग का संघर्ष— तो समीक्षा एक प्रेम-दर्शन है। ऐसा प्रेम-दर्शन जो आवश्यकता पड़ने पर अतिशय कठोर होता है, समान्यतः उदार और कोमल रहता है। ऐसी समीक्षा का विकास यदि समीक्षक करे, तो यह निश्चित है कि वह ‘नेतृत्व’ कर सकता है।”* (पृ. ३३) यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तिबोध समीक्षा-कार्य को प्रेम का दर्शन मानते हैं, अर्थात् रचना में निहित विचारों का प्रेमपूर्वक अत्यंत आत्मीयता एवं सहानुभूति के साथ दर्शन करना, देखना ही समीक्षा है। इस प्रेम-दर्शन में कठोरता भी हो सकती है, परन्तु वह कठोरता रचनाकार को कुछ देती ही है, उसका मार्गदर्शन करती है, न कि उसे ईर्ष्यापूर्वक दिग्भ्रमित करती है। मुक्तिबोध द्वारा दी गयी समीक्षा की यह परिभाषा सर्वांगपूर्ण न होते हुए भी बहुत दूर तक लेखक एवं समीक्षक के बीच आपसी संवेदनशीलता के महत्त्व को उजागर करती हैं। संवेदनशीलता की तरलता जहाँ सूखने लगती है वहाँ समीक्षा एवं साहित्य दोनों के समक्ष खतरा उपस्थित हो जाता है। मुक्तिबोध अपने निबंध में इस तथ्य को बार-बार उठाते, दुहराते हैं।

इस प्रकार समीक्षक और समीक्षा संबंधी बहुत-सी सार्थक अवधारणाओं की चर्चा मुक्तिबोध बड़ी बेबाकी से करते हैं।

साहित्य में विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित ‘वाद’ चलते रहते हैं। मुक्तिबोध इसके विरोधी रहे हैं। वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं— *“परन्तु लोग आलोचना करते समय खास ‘वाद’ के दायरे में बाँधकर ही साहित्य को देख पाते हैं। यह तरीका एकदम गलत है। साहित्य*

के ‘वाद’ दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणालियाँ नहीं हैं, वे केवल साहित्य के दृष्टिकोण हैं।” (नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. १०९)

साहित्य के सौन्दर्य पक्ष पर भी मुक्तिबोध ने बहुत गहराई से चिंतन किया है। सन् १९६० के मार्च महीने में ‘वसुधा’ में गोरखनाथ जी का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक था— ‘मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य पक्ष’। इस आलेख में गोरखनाथ जी ने मार्क्सवादी साहित्य के सौन्दर्य पक्ष पर आशंका व्यक्त की थी जिसके प्रत्युत्तर में मुक्तिबोध ने एक बड़ा-सा आलेख ही तैयार कर डाला और उसमें प्रमाणित किया कि मार्क्सवादी साहित्य में भी सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्यानुभूति को उचित स्थान दिया गया है। साहित्य के सौन्दर्य-पक्ष पर मार्क्सवादी दृष्टि से विचार करते हुए वे कहते हैं— *“मार्क्सवादी साहित्य विचारकों ने सौन्दर्य संबंधी प्रश्नों पर विस्तृत रूप से विचार किया है। रूस में इन प्रश्नों पर विशेष चिंतन हुआ है। जिस देश में उज्ज्वल साहित्य की एक विशाल परंपरा हो, उस देश में सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रश्नों पर विचार होना स्वाभाविक है।”* (नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ. १०४)

केवल मार्क्सवादी साहित्य के सौन्दर्यपक्ष पर ही नहीं, बल्कि साहित्य के व्यापक फलक पर चिंतन करते हुए मुक्तिबोध ने साहित्य में सौन्दर्य पक्ष के चित्रण को आवश्यक बतलाया है। वे लिखते हैं— *“सौन्दर्यानुभूति की अधिकतमता और बारम्बारता जिस व्यक्ति में अधिक होगी वह अधिक मनुष्य होगा। यह सौन्दर्यानुभूति मानव-संबंधों पर प्रभाव डालती है, वास्तविक जीवन पर प्रभाव डालती है, उसे नयी सार्थकता प्रदान करती है। अतएव सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य की क्षमता से उसका पूरा और सीधा संबंध है।”* (समीक्षा की समस्याएँ, पृ. ४६)

मुक्तिबोध के इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यथार्थ का अंकन करना एवं उसे नारेबाजी का स्वरूप देते रहने मात्र में ही कला अथवा साहित्य की उपयोगिता अथवा सार्थकता नहीं है, उसके सौन्दर्यपक्ष का बार-बार पुनरावलोकन करना भी मानवीय पक्षधरता

से ही संबंध रखता है। यह सौन्दर्य पक्ष है क्या? क्यों साहित्य में उसकी आवश्यकता को मुक्तिबोध महत्वपूर्ण बतला रहे हैं? मुक्तिबोध इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं— “सौन्दर्यानुभूति, मनुष्य की अपने से परे जाने की, व्यक्ति-सत्ता का परिहार कर लेने की, आत्मबद्ध दशा से मुक्त होने की, मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध है।” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ ४९) सारांश यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति उसी को होती है जो अपने से परे उठकर सोचता है। साहित्य का धर्म भी यही है, अपने से परे सोचना। अतः साहित्य और सौन्दर्य का गहरा संबंध है। दोनों जीवन से जुड़े हैं। दोनों कला की दुनिया रचते हैं, मानवता का संदेश देते हैं। अतः मुक्तिबोध इसकी अनिवार्यता का मूल्यांकन गहरी संवेदना के साथ करते हैं। वन-मार्ग में जाते हुए राम, लक्ष्मण एवं सीता को देखकर ग्राम वधुएं मोहित हो जाती हैं। वे सीता से पूछती हैं— “कहाँ सांवरों से सखि रावरो को हैं”, सीता भी चतुर हैं, कनखियों से इशारे से बता देती हैं कि वे मेरे पति हैं और मुस्कुराती हुई चल देती हैं। सूक्ष्म सौन्दर्य का ऐसा चित्रण भला किसे प्रभावित नहीं कर सकता! यही जीवन की सरसता है। जीवन के मार्मिक पक्ष का उद्घाटन है। केवल खाना-पीना, अभाव का रोना-रोना ही जिन्दगी नहीं है। यही कारण है कि मुक्तिबोध ही नहीं, जीवनानुभवों का उद्घाटन करने वाले सभी साहित्यकार स्वतः ही कला मर्मज्ञ होते हैं, सौन्दर्य प्रेमी होते हैं।

कला को स्वायत्त मानने वाले चिंतकों के विषय में मुक्तिबोध कहते हैं— “इन नये महोदयों ने यह विशेष रूप से प्रतिस्थापित किया कि कला का अपना स्वायत्त तन्त्र होता है, जिसमें उसी के अंतर्नियम लागू होते हैं। मेरे ख्याल से यह उनकी सबसे बड़ी देन है। किन्तु

यहाँ भी उन्होंने स्वायत्त स्वतंत्रता को निरपेक्ष और पूर्ण माना। वे यह भूल गये थे कि कला का अपना स्वायत्त तंत्र जीवन तत्त्वों के द्वारा अनुशासित है— ऐसे जीवन-तत्त्व जिनका सूत्र यदि आभ्यंतर है, तो दूसरा वास्तविक बाह्य जीवनगत है।” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ. ५४)

मुक्तिबोध की यह विशेषता है कि वे किसी भी बात को बड़े ही नाप-तौल कर कहते हैं। कला की स्वायत्तता के संदर्भ में उनके तर्क काफी संतुलित एवं अनुकूल हैं। सच है, जीवन से अलग करके कला का मूल्यांकन किया ही नहीं जा सकता और जीवन भी कलाहीन होकर जीवंत नहीं बन सकता। दोनों परस्पर अनुस्यूत हैं। दोनों की बारीकियों को पहचानना, पकड़ना साहित्य एवं समीक्षक का सच्चा दायित्व है।

‘समीक्षा की समस्याएँ’ चौवन (५४) पृष्ठों का लम्बा सा आलेख है बिल्कुल बिंदास शैली में लिखा गया आलेख। समीक्षकों एवं प्रगतिवादियों के प्रति कटुक्तियाँ भी खूब हैं। समीक्षा जगत के लिए यह आलेख अत्यंत उपयोगी है। यह आलेख एक मार्क्सवादी तथा बहुत दूर तक नयी कविता के हिमायती विचारक का आत्म प्रलाप मात्र है, ऐसा कहकर इसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। फिर भी इतने संतुलित आलेख तैयार करने के बावजूद भी मुक्तिबोध को कहीं-न-कहीं यह भय अवश्य बना हुआ है कि उनकी बातें किसी को भी बुरी लग सकती हैं। अतः वे कहते हैं— “मैं पण्डित नहीं हूँ, प्रचारक नहीं हूँ, विद्वान नहीं हूँ, केवल एक मामूली लेखक हूँ। और मैंने शायद सबकी आलोचना कर डाली है। इसलिए मुझसे सब नाराज भी होंगे। लेकिन मेरा ख्याल है कि वे मुझे माफ भी कर देंगे, मेरी उपेक्षा करेंगे क्योंकि मैं उनके रास्ते के बीच में कहीं भी नहीं आता।” (समीक्षा की समस्याएँ, पृ ६३)

हिन्दी ग़ज़ल अतीत से वर्तमान तक

ज्ञानप्रकाश पाण्डेय

ग़ज़ल की परम्परा पर विचार करने के पूर्व यह समझना अनावश्यक न होगा कि ग़ज़ल क्या है। कई शेर के समूह को ग़ज़ल कहते हैं, किन्तु सिर्फ़ इतना ही कह देना पर्याप्त न होगा। हिन्दी के पिंगल शास्त्र की तरह या अन्य भाषाओं के छन्द शास्त्रों की तरह इसके भी कई दांव-पेंच हैं। हिन्दी के कुछ लोग ग़ज़ल को बहुत सरल विधा मानते हैं और शायद कारण है कि हिन्दी ग़ज़ल में उर्दू वाली धार नहीं है। वह मारक क्षमता नहीं है, दो-चार कदम चलकर लड़खड़ा जाती है। परन्तु इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि हिन्दी में अच्छी ग़ज़लें नहीं हैं। हिन्दी में अज़ीम शायर पैदा हुए हैं। हिन्दी में भी कालजयी ग़ज़लों का सृजन हुआ है।

आइये ज़रा ग़ज़लों के नियम-कानून की बात करते हैं। ग़ज़ल दो पंक्तियों की आसान सी नज़र आने वाली कठिन विधा है इन दो पंक्तियों को 'मिसरा' कहा जाता है। ऊपर वाली पंक्ति को 'मिसरा-उल-हक्र' तथा नीचे वाली पंक्ति को 'मिसरा-उल-शानी' कहते हैं। प्रथम दो पंक्तियों को जिनके तुक समान होते हैं 'मत्ला' कहते हैं, तथा अंतिम दो पंक्ति जिसमें शायर का नाम होता है उसे 'मक्ता' कहते हैं। रचना की दृष्टि से 'काफ़िया' एवं 'रदीफ़' ग़ज़ल के दो अनिवार्य तत्त्व हैं। 'काफ़िया' शब्द 'फ़कू' से बना है। जिसका अर्थ होता है बार-बार अर्थात् वह शब्द जो शेर में बार-बार आकर उसको एक धागे में पिरो देता है, 'काफ़िया' कहलाता है। इसे हिन्दी के तुक शब्द का पर्याय मान सकते हैं। उदाहरण के लिए एक ग़ज़ल के शेर देखिए-

“हर ज़हर पीती रही है अक्षरों वाली गली,
पर सदा अक्षत रही है गीत की गंगाजली।
सूर कह लो मीर कह लो या निराला या ज़िगर,
हर जुबां में जी रही है दर्द की वंशावली।”

इन शेरों में 'गली', 'गंगाजली' और वंशावली काफ़िये हैं। 'रदीफ़' का शाब्दिक अर्थ है अनुगामी। अरबी में घुड़सवार के पीछे बैठे व्यक्ति को 'रदीफ़' कहा जाता है। परिभाषा के अनुसार 'रदीफ़' काफ़िये के पीछे लगने वाला शब्द है। जो एक ही रूप में बिना किसी दृश्यान्तर के काफ़िये के साथ पिछलगू की तरह खड़ा रहता है।

ग़ज़ल में शुरू से अन्त तक रदीफ़ एक ही रहती है। कुछ ग़ज़लों में रदीफ़ नहीं होती। जिन्हें 'गैर-मुरद्दफ़ ग़ज़ल' कहा जाता है।

ग़ज़ल को ग़ज़ल के निकष पर कसते समय एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक शेर के मिसरों की मात्रा बराबर है या नहीं। ग़ज़ल में 'बहर' अर्थात् वज़न या छन्द एक आवश्यक अंग है। 'बहर' के उन्नीस प्रचलित प्रकार हैं। प्रत्येक ग़ज़ल इनमें से किसी एक पर आधारित होती है। प्रायः तीन तरह के 'बहर' ही विशेष रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं।

(१) छोटी बहर :-

उर्दू के कबीर,
मीर तकी मीर।
हिन्दी के भीर,
फक्कड़ कबीर।

(२) मध्यम बहर :-

‘जी भर खूब रुलाया पहले फिर हँसकर वह बोल पड़ा,
पत्थर हो जायेगी आँखें कभी-कभी तो तर करिए’-
-रवि प्रताप सिंह रवि

(३) लम्बी बहर :-

‘अजल में जागी थी नींद से जो वो आँख अब तक जगी
हुई है,
न जाने देखा या कैसा जलवा नज़र ठगी-की-ठगी हुई
है।’

- नन्दलाल सेठ ‘रौशेन’

ग़ज़ल अरबी भाषा का एक शब्द है एवं उसी की काव्य
विधा भी है, जिसका अर्थ है औरतों से या औरतों के बारे
में बात करना। अरबी ग़ज़लों में कथ्यों की संकीर्णता के
कारण यह नाम शायद उस पर लाद दिया गया है। ग़ालिब
ने भी इस संकीर्णता को स्वीकारा है। एक
उदाहरण :

बकद्रे शौक्र नहीं जर्फ़ें तंगना-ए-ग़ज़ल,
कुछ और चाहिये बसअत मेरे बयों के लिये।

- ग़ालिब, आईना-ए- ग़ज़ल

ग़ज़ल अपने आदिकाल में नारी सौंदर्य वर्णन
का ही केन्द्र थी। लखनऊ में इसके कथ्य के साथ बहुत
खिलवाड़ हुआ। शायरी का निकृष्टतम रूप सामने आया।
जिसके परिणाम स्वरूप कई लोगों ने इसे विशेषणों से
नवाजा। जैसे :- जनाब कलीमुद्दीन अहमद साहब इसे
‘नंगे-शायरी’ यानी बेहूदी शायरी, जनाब शमीम अहमद
इसे ‘मनहूस शैली की शायरी’ और जनाब अज़मतुल्लाहखान
साहब कहते हैं कि ग़ज़ल ‘क्राबिले गर्दन ज़दनी है’। यानी
इसे जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिये। ‘मीर’ को भी शायद
इसीलिए लखनऊ से घृणा थी। उन्होंने अपने एक शेर में
लिखा है-

‘ख़राबा दिल्ली का हरचन्द बेहतर लखनऊ से था,
वहीं मैं काश मर जाता सरासीमा न आता यों’
(हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह)

किन्तु ग़ज़लों को ये सब कहा जाना एवं

लखनऊ के प्रति मीर की घृणा ग़ज़ल की लोकप्रियता को
कम नहीं कर पायी। अगर ग़ज़ल इतनी ख़राब होती तो
उर्दू के मूर्धन्य आलोचक रसीद अहमद सिद्दीकी इसे
‘आबरू-ए-शायरी’ न कहते।

ग़ज़ल की यह विधा कालान्तर में धीरे-धीरे अरबी से
फ़ारसी की तरफ़ गमन करती है। यहाँ भी उसका माध्यम
नारी ही थी, किन्तु दैहिक प्रेम धीरे-धीरे आध्यात्मिक
दृष्टि पा लेता है। इसमें सर्वाधिक प्रयासरत सूफ़ी कवि ही
नज़र आये। परन्तु इसके माध्यम से उन्होंने कहीं भी धर्म
प्रचार नहीं किया। मानव प्रेम पर बल दिया जैसा की
सर्वविदित है। सूफ़ी काव्य प्रासाद विरह की पुष्ट नींव पर
खड़ा है, इनके काव्यों में विरह पक्ष हमेशा शिखर पर रहा
एवं ग़ज़लों में विरहाकुल प्रेमी-प्रेमिकाओं के रूदन का
स्वरालाप ही चतुर्दिक कसकता रहा।

ग़ज़ल अब धीरे-धीरे फ़ारसी से उर्दू की तरफ़
अपनी उड़ान भरती है। यहाँ उसकी रचना पद्धति में तो
कोई उलट-फेर नहीं होता, किन्तु कथ्य भारतीयता से
प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। अरबी, फ़ारसी की
जगह भारतीय प्रतीकों का चलन प्रारम्भ होता है एवं
उनका आध्यात्मिक प्रेम भारतीय मिट्टी की उपज लगने
लगती है। सन् १७०० ई. में ‘वली’ जब औरंगाबाद से
दिल्ली आते हैं तो यह विधा दक्षिण से उत्तर की तरफ
आती है। वहाँ फ़ारसी के शासकीय प्रभाव के कारण उस
पर पुनः फ़ारसी का प्रभाव पड़ता है एवं उर्दू ग़ज़लों में
फ़ारसी व्याकरण की छटा पुनः दृष्टिगत होने लगती है।
ग़ालिब के समय तक उर्दू ग़ज़ल का आदर्श फ़ारसी ग़ज़ल
ही रही। स्वयं ग़ालिब भी इसका अपवाद नहीं बन पाये
थे। उनकी ग़ज़लों में फ़ारसी की ही बहुलता रहती थी।
एक बार उनकी क्लिष्टता का मजाक उड़ाते हुए हकीम
आगा जान ‘ऐश’ ने कहा था-

‘अगर इनका कहा तुम आप ही समझते तो क्या समझें!
मगर इनका कहा यह आप समझें या खुदा समझें’

उस समय तक ग़ज़लों में फ़ारसी व्याकरण का ही प्रयोग
किया जाता था तथा उसी के अनुकूल उसे रखा जाता
था। उर्दू ग़ज़लकारों में ग़ज़लों को फ़ारसी जैसी बनाने की
अभिलाषा सदा बनी रहती थी। आगे चलकर यह खुमारी
तनिक कम होती सी लगती है। जिसका उदाहरण इक़बाल
के प्रारम्भिक ग़ज़लों में स्पष्ट नज़र आता है। किन्तु, बाद

में वे भी इसकी ज़द में आ जाते हैं।

स्वातंत्रोत्तर भारत के नये पाठकों की कमजोर पांच एवं इच्छा शक्ति उर्दू ग़ज़लों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाती है। नई पीढ़ी के नये पढ़े-लिखे लोगों के लिए न तो फारसी युक्त उर्दू ही समझने योग्य थी और न तो अरबी-ईरानी इतिहास उनके अन्दर कोई इच्छा-शक्ति उत्पन्न कर पाती है। ग़ज़ल की भाषा सरल एवं बोलचाल की भाषा में परिवर्तित हो जाती है। अरबी के भारी-भरकम शब्दों की जगह तार्किकता ले लेती है।

जैसा कि सभी जानते हैं, परिवर्तन प्रकृति का नियम है, ग़ज़ल भी अपनी यात्रा के दौरान आने वाले नये परिवर्तनों को ग्रहण करती रही।

ग़ज़ल अपने चतुर्थ परिवर्तन के साथ उर्दू से हिन्दी में प्रवेश करती है। ग़ज़ल अब यहां अपने पारंपरिक अर्थ से बहुत आगे निकल चुकी थी। अब यह किसी स्त्री की बात न होकर, सामाजिक चेतना व अभिव्यक्ति का माध्यम बन चुकी थी। अब वह मात्र प्रेमी-प्रेमिकाओं का प्रेमालाप न थी, बल्कि समाज के कई पक्षों को उजागर करने में सक्षम थी। यह अपने साथ एक सशक्त जुझारूपन लिए हुए थी।

ग़ज़ल के आरम्भ के विषय में विद्वानों की कई धारणाएँ हैं। कुछ लोग ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को कुछ लोग सरहपा को तो कुछ लोग अमीर खुसरो को हिन्दी ग़ज़ल का जनक मानते हैं। अतः इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी ग़ज़ल को उसकी काव्ययात्रा के अनुसार चार भागों में बाँट सकते हैं—

- (१) भ्रामक काल (खुसरो से पूर्व का काल)
- (२) अलिफ़ काल (अमीर खुसरो से निराला तक)
- (३) सृजन काल (निराला के बाद से दुष्यंत तक)
- (४) शीर्ष काल (दुष्यंत से आज तक)

जैसा कि सभी जानते हैं इतिहास का प्रारंभिक दौर हमेशा से ही अनुमान के अधीन रहा है तारीखे - ग़ज़ल भी इसका अपवाद नहीं हो पाती। इसका भी प्रारंभिक दौर भ्रम में डूबा हुआ है। मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना, जितने मुँह उतनी बातें, किसी ने मुईनुद्दीन चिश्ती को तो किसी ने सरहपा को ग़ज़लकार मान लिया है। ज़ामंडल वाराणसी के हिन्दी साहित्यकोश में उल्लेख है कि 'ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती भारत में ग़ज़ल की सर्वप्रथम रचना करने वाले

व्यक्ति हैं, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने फारसी और भारतीय भाषाओं में ग़ज़लें कहीं कुछ लोग सरहपा को प्रथम ग़ज़लकार मानते हैं। ऐसे लोगों से मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि वो ग़ज़ल का शिल्प एक बार फिर से पढ़ें, उनका विचार अवश्य बदलेगा। ग़ज़ल के कई निकष हैं, किसी एक पर खरा उतर जाने से कोई रचना ग़ज़ल नहीं हो जाती। ये सब रचनाएँ ग़ज़ल का भ्रम पैदा करने वाली रचनाएँ थीं। किसी रचना का ग़ज़ल होना और ग़ज़ल जैसा होने में बहुत अन्तर है।

अमीर खुसरो से निराला तक के काल को अलिफ़ काल कह सकते हैं। इस काल के रचनाकार ग़ज़ल को एक ढाँचे में ढालने की पूरी कोशिश करते हैं। कोशिश बहुत हद तक कामयाब भी होती है। किन्तु, मुकम्मल ग़ज़ल यहाँ भी नहीं बन पाती। शिल्प का सौन्दर्य भले ही बढ़ जाता है, किन्तु तेग में वो धार नहीं आती। अमीर खुसरो छायावादी कवियों की तुलना में अधिक सफल दिखते हैं, अरबी-फारसी के सुघड़ ग़ज़लिया शब्द उनके शेरों में धार तथा सौन्दर्य पैदा करते हैं। एक उदाहरण—
'जे हाल मिसकी मकुन तगाफ़ुल दुराय नैना, बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज़ाँ न दारम, ऐ जाँ! न लेहुँ काहे लगाय छतियाँ'।

शबाने हिज़ाँ दराज चूँ जुल्फ़ व रोजे वसलत चूँ उम्र कोतह।

सखी! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ'।

भक्तिकाल में कबीर और तुलसी के दोहों पर भी ग़ज़ल का आरोप है, किन्तु वो सब आलोचकों की तार्किकता के प्रतिफल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे हिन्दी तुकान्त कविताएँ थीं जिनका रूप इत्फ़ाकन कहीं-कहीं ग़ज़ल के समान था। वे ग़ज़ल की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। कबीर के दोहों को हम कुछ हद तक ग़ज़ल मान भी लें पर तुलसी को तो बिल्कुल नहीं।

द्वितीय चरण को हम निर्माण काल कह सकते हैं यहाँ खुसरो द्वारा किया गया बीजारोपड़ अंकुरित होकर पौधे का रूप धारण कर लेता है, तथा अपने पारंपरिक अर्थ को छोड़कर आगे बढ़ता हुआ नज़र आता है। इसका क्षेत्र शमशेर बहादुर से दुष्यंत कुमार तक फैला हुआ है।

तृतीय चरण विकास का काल है यहाँ शमशेर

और दुष्यंत द्वारा पोषित पौधा विशाल वृक्ष का रूप धारण करता है। इस काल के प्रमुख ग़ज़लकार रामदरश मिश्र, गोपाल दास नीरज, शेरजंग गर्ग, कुंवर बेचैन आदि हैं।

हिन्दी में ग़ज़ल के आगमन का कारण कुछ रचनाकारों और समीक्षकों ने गीत की उपेक्षा को माना है। उनका कहना था कि गीत ने लंबा संघर्ष किया परन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। ऐसी स्थिति में ग़ज़ल को अपनाने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। परन्तु यह धारणा सही नहीं लगती क्योंकि दुष्यंत के पूर्व किसी हिन्दी कवि ने गीत की उपेक्षा के कारण ग़ज़ल नहीं लिखी। सच तो यह लगता है कि उर्दू मुशायरों की सफलता एवं उनके कवियों की प्रसिद्धि हिन्दी कवियों के मन में भी लालच पैदा करती है जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वे उर्दू की तरफ मुड़े, किन्तु कुछ खास सफलता हाथ नहीं लगी। उर्दू की तरह लिखना तो दूर उसके समक्ष खड़े होने की भी शक्ति हिन्दी में न थी। उसका कारण यह था कि उर्दू उस समय फारसी की सुदृढ़ नींव पर खड़ी थी जबकि हिन्दी उस समय नयी भाषा थी। साथ ही भारतेन्दु सरीखे कुछ कवियों ने लिखने की कोशिश की किन्तु खास सफलता न मिलने के कारण अपना हाथ खींच लिया और कुछ खास रुचि न दिखाई। सच तो यह है कि हिन्दी ग़ज़ल का जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि यह एक लम्बे समय से अपना आकार ग्रहण करती चली आ रही

निकलकर मजदूर के मजबूत कंधों का परस पा सकी।
एक उदाहरण देखिए—

‘हैं चींटियों का काफ़िला मिसिरी के ढेर पर,
प्यादे तमाम दावेदारी पर ये अड़े हैं।
जीनत भला ये कब किसी महफ़िल की बन सके,
मजदूर के गमछे फ़क़त शाने पे पड़े हैं।’

‘हिन्दी ग़ज़ल’ को ‘हिन्दी ग़ज़ल’ न मानने वालों की एक लम्बी फेहरिस्त है, जिसमें कुछ नाम इस प्रकार हैं— धनंजय वर्मा, डॉ. जानकी प्रसाद शर्मा, नरेन्द्र वशिष्ठा आदि। इसके विपरीत ‘हिन्दी ग़ज़ल’ को ‘हिन्दी ग़ज़ल’ कहने वालों की भी लम्बी कतार है जो इस प्रकार है— डॉ. राजेन्द्र कुमार, शेरगंज गर्ग, राजकुमार कृषक, जयंत चौहान आदि।

हिन्दी वालों की एक बात विचित्र है कि जब कोई विधा नई करवट लेने लगती है या कोई नया आसन ग्रहण करने की कोशिश करने लगती है तो हिन्दी समीक्षक उसके नामकरण संस्कार के लिए टूट पड़ते हैं। हिन्दी ग़ज़ल के साथ भी ऐसा ही हुआ। किसी ने ‘गीतिका’ किसी ने ‘अनुगीत’ तो किसी ने ‘तेवरी’ नाम का चोंगा ओढ़ा दिया। नीरज जहाँ अपनी ग़ज़लों को ‘गीतिका’ कहते हैं, वहीं मोहन अवस्थी ‘अनुगीत’ की ओढ़नी से ढँक देते हैं, किन्तु ग़ज़ल सी नैसर्गिता इन नामों में नहीं आती।

डॉ. नरेश भी हिन्दी ग़ज़ल को हिन्दी ग़ज़ल ही मानते हैं, किन्तु उनका तर्क कुछ और ही है। उनका कहना है कि इसे हिन्दी ग़ज़ल कहना इसलिए जरूरी है कि जिससे इसे उर्दू ग़ज़ल के मुकाबले में न लाया जाय। हिन्दी के ग़ज़लकार इस बात से भलीभाँति अवगत हैं कि उनके श्रेष्ठ ग़ज़लकार के दावे के बावजूद उनकी ग़ज़लें समकालीन उर्दू ग़ज़लों के स्तर की नहीं हैं। पर मुझे यह उनका भाषा प्रेम प्रतीत होता है। इस बात की पुष्टि के लिए डॉ. कुंवर बेचैन का एक शेर देखिए—

‘अंगुलियाँ तो एक सीमा तक बढ़ी फिर रुक गई,
और इसके बाद बस नाखूँ ही बढ़ते रहे।’

शिल्प या भाव किसी भी स्तर पर यह उर्दू शेरों से कम नहीं है। सच तो ये हैं कि अच्छे-बुरे हर जगह होते हैं। वैसे भी ग़ज़ल के शेर कभी-कभी ही लिखे जाते हैं।

आज हिन्दी ग़ज़ल दरबारी शेरों-शायरी नहीं

है बल्कि अपनी विश्व-स्तरीय व्यापकता के साथ देखी जा सकती है। अब हम नहीं कह सकते कि यह पाबंदियों में अपनी राह चुनती है, या यह निजी भावनाओं की अभिव्यक्ति है। हिन्दी ग़ज़ल अब वह इन्कलाबी औरत है जो घर की दहलीज पारकर समाज के संविदाकारों के बीच अपने लिए एक उच्चासन प्राप्त कर चुकी है। हम इस परिवर्तन को डॉ. कुँवर बेचैन के इस शेर में देख सकते हैं।-

‘अब हमें शोलों के राहों पर भी चलना आ गया,
यह बड़ा अच्छा हुआ काँटे दिए प्रतिपक्ष ने।’

ग़ज़ल के संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा की मान्यता थी कि “ग़ज़ल दरबार से निकली हुई विधा है वह प्रगतिशील मूल्यों को अभिव्यक्ति देने में असक्षम है” यह पंक्ति कहकर उन्होंने शमशेर बहादुर की एक ग़ज़ल छापने से साफ मना कर दिया था। ग़ज़ल का शेर इस प्रकार है- (पेज-२० हथेली पर क्षितिज, संपादक ज्ञानप्रकाश विवेक)

“यह सलामी दोस्तों को है मगर,
मुट्ठियाँ तनती हैं दुश्मन के लिए।”

सांसारिक परिवर्तनों के साथ-साथ हमारा अंतर जगत भी करवटें लेता रहता है। माना कि यह प्रक्रिया जरा मंद होती है परन्तु अलक्षित रूप से यह संसार निर्मित करती रहती है। कुछ पता ही नहीं चलता कि कब यह हमारे साहित्य का अंग बन गई। कल-कारखाने, रेल मोटर सड़क जैसी चीजें हमारी संवेदना से जुड़कर हमारे साहित्यिक प्रतीक का रूप ग्रहण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए कुछ शेर देखिए-

‘कुछ नहीं, जीने का सलीका सिखा रही है वो,
कि दो पैरों पर बकरी पत्तियाँ खा रही है वो।
घड़ियाल के चमड़े पर दौड़ रही है इक ट्रेन,
जम्हूरियत दीवार से सर भिड़ा रही है वो।’

ग़ज़ल के इस शेर में साफ दृष्टिगत हो रहा है कि इस दौर का मानव कठिन रास्ते का पथिक है। उसकी जिन्दगी की ट्रेन उबड़-खाबड़ रास्ते पर चल रही है। सिर्फ चल ही नहीं रही है बल्कि दौड़ भी रही है। शायद वह कहना चाहता है कि जिन्दगी कठिन से कठिन दौर में चलती रहती है। निरंतरता ही जिंदगी का पर्याय है। यहाँ घड़ियाल के चमड़े तथा ट्रेन प्रतीक रूप में आए हैं। जम्हूरियत किंकर्तव्यविमूढ़ हो चुकी है। हमें प्रजातंत्र से

जो भी मिलने चाहिए वो नहीं मिल रहे, किन्तु जीना हमारी मजबूरी है और हम हर हाल में जी रहे हैं। ‘बकरी’ और ‘पत्ती’ संघर्ष और लक्ष्य की ओर इशारा करती है। मानवीय दृष्टि की व्यापकता एक अन्य शेर में हम इस प्रकार देखते हैं।

“तू फूल रहा मेरे घर में आ लगाकर
दुनिया का नक्श देख जरा चाँद से मगर”

इस शेर में साफ परिलक्षित हो रहा है कि किसी अन्य का नुकसान करके हम सिर्फ उसका ही नुकसान नहीं करते, साथ-ही-साथ अपने आप को भी समान रूप से क्षतिग्रस्त करते हैं। किन्तु, इसे समझने के लिए दृष्टि की व्यापकता की जरूरत है। अत्यधिक बौद्धिकता कहीं-कहीं कविता को दुरुह और नीरस जरूर कर देती है पर कविता भावों से लबरेज है।

आज का कवि बड़ी पैनी नज़र रखता है। उसके मन में जहाँ सबको पढ़ लेने की कुशलता है वहीं तीखी जुबान का खतरा भी है। वह मर्सिया लिखने का आदी नहीं है, आग उगलने वाला अजगह है। वह अपनी कविता में सौन्दर्य प्रसाधनों और अलंकारों से सुसज्जित नायिका का निर्माण नहीं करता बल्कि अस्त्र-शस्त्र से लैस एक शक्तिशाली सैनिक तैयार करता है। वह मिट्टी के शेर नहीं बनाता शिकारी कुत्ते ट्रेन्ड करता है जो गलत देखकर कुर्सी की परवाह किए बिना कहीं भी किसी पर झपट सकते हैं। इस प्रक्रिया में कुछ शेर देखते हैं-

“गौहर के हार शहर के बंदर हैं पा गए,
पेड़ों से कूद कर के ये कुर्सी पे आ गए।
सूरत अलग सी है मगर आदतें यूँ एक सी
देखा उन्हें तो दशत के बंदर लजा गए।”

एक कटाक्ष देखिए-

“इन्सान हैं इन्सान की फितरत उनमें,
कुत्ते नहीं हैं वो जो वफ़ादार बने।”

डॉ. शिव ओम अम्बर का एक शेर देखें-

“कह रहे हैं ये स्वयं को ज्योति का मंगल कलश,
इक दफ़ा इन जुगनुओं को धूप में ले आइए।
नाम थे इनके मोहब्बत, दोस्तों, इन्सानियत,
इन मज़ारों पर जरा चादर चढ़ाते जाइये।”

हिन्दी ग़ज़ल जैसे-जैसे अपने परंपरागत रूप में अपने परिवर्तनों के साथ आगे बढ़ती रही, उस पर उँगलियाँ

उठती रहीं। नये-नये प्रश्नों की बौछार होती रही। जितने मुँह उतनी बातें। इसी पचरे से एक प्रश्न उठा कि कौन हिन्दी ग़ज़लकार है और कौन उर्दू। बात तो ठीक ही थी परन्तु इसके लिए कसौटी की जरूरत थी। जो शायद अभी तक तय नहीं हो पाई। आखिर किस आधार पर इसका निर्णय किया जाय? कोई मज़हब के आधार पर करता है तो कोई भाषा के आधार पर; पर इस झमेले में कई शायर अटके हुए हैं। किसी-किसी के साथ तो दोनों तरफ से सौतेला व्यवहार हुआ। मज़हब को आधार मानना ठीक न होगा और भाषा को आधार माना जाता है तो एक व्यक्ति दोनों तरह का शायर हो सकता है। हिन्दी का भी, उर्दू का भी। इस प्रक्रिया में कुछ शायरों पर दृष्टिपात करते हैं।

अगर हम मज़हब को आधार मानते हैं तो फिराक गोरखपुरी को हम हिन्दी का शायर मानेंगे किन्तु भाषा के आधार पर उनका शुमार उर्दू के अज़ीम शायरों में किया जाता है। इसी तरह कृष्ण बिहारी नूर भी भाषा के आधार पर उर्दू के शायर हैं मगर मज़हब के आधार पर हिन्दी शायर हैं। इधर शमशेर भी जहाँ हिन्दी शेर कहते हैं वहीं उर्दू के रंग में रँग भी नज़र आते हैं। दुष्यंत के समय से शायरों ने दल निर्माण में कुछ जरूर रुचि दिखाई है, परन्तु फिर भी कुछ शायर इसकी चपेट से नहीं बच पाते। वरिष्ठ शायर मुनव्वर राणा यहीं शिकायत करते हुए नज़र आते हैं— “मेरी पहली किताब ‘ग़ज़ल गाँव’ देवनागरी में छपी, कुछ उर्दूवालों ने नापसंदीदगी का इजहार किया तो मैंने दूसरी किताब ‘मोर पाँव’ भी हिन्दी में छपी तीसरी किताब ‘पीपल छाँव’ भी हिन्दी में आई। अंजाम जो होना चाहिए था वही हुआ। उर्दू वालों ने मेरी शायरी शख्सियत और किताबों को नज़रअंदाज किया लेकिन असल दुःख उस वक्त हुआ जब हिन्दी वालों ने भी मेरे साथ सौतेला व्यवहार किया।” (‘घर अकेला हो गया’ कभर पेज अंतिम पृष्ठ) इसी तरह कुछ और शायर जैसे—डॉ. बशीम बरेलवी को उर्दू शायर माना जाता है मगर उनके इस शेर

में हिन्दी का ही बोलाबोला है।

‘छोटी-छोटी बातें करके बड़े कहाँ बन जाओगे,
पतली गलियों से निकलो तो खुली सड़क पर आओगे।’

यह शुमारी इतनी तबील है कि सब पे नज़र डालना भी मुमकिन नहीं है जब विज्ञ समीक्षक ही यह निर्णय न कर पाए तो मेरी विसात ही क्या है मगर फिर भी एक सुझाव देने की हिमाकत कर रहा हूँ कि शायरों का विभाजन कर भाषाई आधार पर शेरों को हिन्दी का या उर्दू का न माना जाय तो बेहतर होगा। मज़हबी भेदभाव भी नहीं पनपेगा और शेरों को उनका असली स्थान भी मिल जायेगा।

डॉ. नरेश लिखते हैं— “‘ध्यान से देखा जाय तो हिन्दी ग़ज़ल प्रगतिशील कविता का अगला चरण दिखाई देती है। अंतर इतना है कि प्रगतिशील कविता के पास बँधा बँधाया राजनैतिक दृष्टिकोण था, सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक समस्याओं का आदर्श परक समाधान था, जबकि हिन्दी ग़ज़ल समाज के किसी पूर्वाग्रह से मुक्त थी। हिन्दी ग़ज़ल रोग की औषधि तलाश नहीं कर रही थी, समाज के नाड़ी परीक्षण द्वारा रोग निदान का निश्चय कर रही थी। शब्दावली के अतिरिक्त यही एक मात्र उर्दू और हिन्दी ग़ज़ल के बीच विभाजन रेखा है।” (पेज-१६, हिन्दी ग़ज़ल— दशा और दिशा, डॉ. नरेश)

आद्योपान्त अध्ययन के पश्चात् अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं के हिन्दी ग़ज़ल मात्र निराशा, हताशा और त्रासदी का पोथा ही नहीं अपितु प्रगतिशील कविता का आशावादी स्वर एवं संभावनाओं की रोशनी भी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि चेतना सम्पन्न हिन्दी ग़ज़ल का द्वार दुष्यंत कुमार के ही हाथों खुला। तालाब का पानी बदलने की उत्कट अभिलाषा पहले-पहल ग़ज़लकार के रूप में उनके अंदर ही जगी। आज हिन्दी ग़ज़ल अपने पूरे वजूद के साथ साहित्य के उच्च सिंहासन की अधिकारिणी है। इसे नकारना इसके साथ बेईमानी होगी।

भूमंडलीकरण के दौर में सांप्रदायिकता तथा हिंदी उपन्यास

बिनय कुमार पटेल

सहायक प्रोफेसर हिन्दी विभाग,
नॉर्थ बंगाल सेंट जेवियर्स कॉलेज, राजगंज, जलपाईगुड़ी

साहित्य, समाज, संस्कृति, मीडिया तथा राजनीति में भूमंडलीकरण शब्द आज सबसे अधिक प्रचलित नाम है। समाज का शायद ही कोई ऐसा कोना होगा जो भूमंडलीकरण से अछूता है। भूमंडलीकरण का मुख्य तात्पर्य एक ऐसी व्यवस्था से है जहां एक ऐसी दुनिया, एक ऐसे संसार का स्वप्न है जो किसी सीमा, राष्ट्र, राज्य के दायरे से बाहर होगा। भारत में 'वसुधैव कुटुंबकम्' को भूमंडलीकरण का समानार्थी शब्द कहा जाता है। परंतु दोनों में तात्त्विक अंतर है। वसुधैव कुटुंबकम् के पीछे जो विचार है वह एक ऐसे संसार का निर्माण चाहता है जहां हर व्यक्ति सुख और शांति के साथ, आपसी सौहार्द के साथ रह सके अर्थात् सुख, शांति और सौहार्द समृद्धि का पर्याय बने जबकि भूमंडलीकरण ने समृद्धि को ही सुख, शांति और सौहार्द का पर्याय बना दिया है। जब समृद्धि, सुख, शांति और सौहार्द का पर्याय बन जाती है तो वहां समाज का एक बड़ा तबका कट जाता है जो गरीब है, निर्धन है।

इज़ाज अहमद 'भूमंडलीकरण और संस्कृति' नामक आलेख में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का आरंभ द्वितीय विश्व युद्ध के आसपास मानते हैं।¹ तत्पश्चात् विभिन्न छोटे एवं बड़े आकार के साम्राज्य को एक ही वैश्विक साम्राज्य के तहत लाने की प्रक्रिया भी आरंभ हुई जिसमें अमेरिका ने प्रमुख भूमिका अदा की। हालांकि पश्चिमी यूरोप एवं जापान भी शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरे लेकिन अमेरिका जैसे पूंजीवादी राष्ट्र के साथ प्रतिद्वंद्विता नहीं कर पाये।² औपनिवेशिककाल में विश्व दो भागों में बंटा हुआ था-1) औद्योगिक देश, जो अत्यंत सीमित संख्या में थे एवं 2) गैर औद्योगिक देश जिनकी मात्रा संख्या में अधिक थी। औपनिवेशिक सत्ता के समाप्त होने के साथ-साथ तीसरी दुनिया कहे जाने वाले देशों में भी औद्योगिककरण तेजी से फैला। जाहिर है कि औद्योगिककरण फैलने के साथ-साथ पूंजीवाद का विकास भी तेजी से होने लगा। अमेरिका इस प्रकार अपना वर्चस्व बढ़ाने लगा।³

साम्राज्यवादी ताकतों ने उत्तर आधुनिकतावाद के नाम पर इतिहास का अंत, राष्ट्र का अंत, विचारधारा का अंत साहित्य का अंत जैसे कई दुमछल्ले उछाल रखे हैं ताकि विश्व का बुद्धिजीवी समुदाय इसी में उलझकर रह जाय। इन ताकतों ने मनुष्य को यह भी भरोसा दिलाने की कोशिश की है कि इस व्यवस्था के अलावा और कोई विकल्प नहीं हैं।

आज किसी भी राष्ट्र के युवा वर्ग के एक बड़े तबके का सपना उच्च शिक्षा पाकर विदेश में नौकरी करना है। नागरिकता, समाज एवं संस्कृति से संबंधित चीजें उनके लिए मायने नहीं रखतीं। यह युवा वर्ग उसी नवमध्यवर्ग का हिस्सा है जिन पर यह मुहावरा फिट बैठता है 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपैया'। दूसरी ओर टाटा बिड़ला और अंबानी जैसे उच्च वर्ग के लोग हैं जिनके लिए नई दिल्ली और न्यूयार्क में कोई अंतर नहीं।

इन सभी के लिए देश बड़ा नहीं पूंजी बड़ी है। इस रूप में साम्राज्यवादी शक्तियाँ एक ऐसे राष्ट्र को गढ़ना चाहती हैं जिसकी संप्रभुता कमजोर हो लेकिन पूंजी के मामले में शक्तिशाली हो।

नवसाम्राज्यवादी शक्तियों का सबसे पहला निशाना लोगों की समूहबद्धता पर है। सामूहिकता की भावना को तोड़कर व्यक्तिवाद को खड़ा करना इनका प्रमुख ध्येय है ताकि अपने अकेलेपन को खत्म करने के लिए जिन उपायों को वह खोजेगा वह कहीं न कहीं इन्हीं बाजारवादी शक्तियों के द्वारा दिये गये विकल्प होंगे। अनायास ही प्रेमचंद की कहानी 'ईदगाह' याद आ जाती है और मन में यह सवाल खड़ा हो जाता है कि अगर आज 'हामिद' किसी मॉल में हो तो वह क्या खरीदेगा? बाजार तब भी था, बाजार अब भी है लेकिन दोनों में बड़ा फर्क था। आज बाजार घर में हैं। इसकी खासियत है कि समस्याएँ भी यही खड़ी करता है और समाधान भी यही बतलाता है।

सांप्रदायिक विचारधारा किसी व्यक्ति या संगठन द्वारा अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए समाज में वैमनस्य उत्पन्न करने के परिणामस्वरूप उभरी। धर्म ने राजनीति के साथ गठजोड़ बना लिया है और अपना वर्चस्व कायम करने के लिए किसी प्रश्न, किसी शंका की गुंजाइश ही नहीं रखा है। सांप्रदायिक विचारधारा समाज को कई परतों में बांटकर रखना चाहती है इसी कारण धर्म, भाषा, क्षेत्र, जाति, वर्ण इत्यादि के आधार पर चुनाव लड़े गये। कभी चुनावी मुद्दा क्षेत्र बना तो कभी वर्ण के आधार पर भी वोट देने की अपील की जाती है। लोगों की भावनाओं को भड़काकर, उसका शोषण और दोहन करके अपने टुच्चे स्वार्थों की पूर्ति की जाती है।

वैश्विक स्तर पर भले ही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का आरंभ द्वितीय विश्वयुद्ध के आस-पास हुआ हो लेकिन भारत में भूमंडलीकरण १९९० के दशक के बाद ही अपने पैर जमा पाया। भूमंडलीकरण के आगमन से सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार और भी तेजी से होने लगा है। इसका कारण यह है कि भूमंडलीकरण के फलस्वरूप जो नया मध्यवर्ग उभरकर आया है ठीक तरह से अभी आधुनिक भी नहीं हुआ था कि उत्तर

आधुनिकता आ धमकी। उत्तरआधुनिकता, आधुनिकता का अगला सोपान है। ऐसी परिस्थिति में सांप्रदायिक विचारधारा को अपना वर्चस्व कायम करने का मौका मिला जिसका उसने पूरा फायदा उठाया। जातीय अस्मिताएं, क्षेत्रीय अस्मिताएं आदि प्रमुख बनते गये जबकि मनुष्यता बौनी हो गयी, देश पीछे छूट गया। आज हालत यह है कि हम मराठी मानुष पहले हैं, बिहारी, बंगाली, पंजाबी, मलयाली पहले हैं भारतीय बाद में जबकि स्थितियाँ इसके ठीक उलट होनी चाहिए थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास की भूमिका में कहा था— 'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।'⁴ तब यह भी निश्चित ही है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव से जब समाज अछूता नहीं रह सका है तो साहित्य कैसे अछूता रहेगा। भूमंडलीकरण के वर्चस्व के साथ-साथ उत्तर आधुनिकता का आगमन भी भारतीय समाज में हुआ है। उत्तर आधुनिक विचारों से प्रभावित होकर कई लेखकों, चिंतकों ने अपने विचार साहित्य जगत में रखे हैं। हिंदी उपन्यास लेखन की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। साठ के दशक के बाद से ही सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यास हिंदी साहित्य जगत में देखने को मिलते हैं।

हिंदी उपन्यासों में १९९० के दशक से लेकर अब तक सांप्रदायिकता संदर्भित लगभग एक दर्जन से भी अधिक उपन्यास लिखे गये हैं जिनमें सांप्रदायिकता की समस्या, इनके पीछे मौजूद विभिन्न ताकतें, उनकी असली मंशा, सांप्रदायिक हिंसा के दौरान मानवीयता के ह्रास का चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों में कुछ ऐसे पात्रों का चित्रण भी है जिनमें अभी मानवीयता बरकरार है। इस दौर के सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों में सन् १९९४ में प्रियंवद का उपन्यास 'वे वहाँ कैद हैं' प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक ने फासीवादी शक्तियों के भयावह चेहरों को बेनकाब किया है। इस कारण गोपाल राय अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं कि सांप्रदायिक सोच और फासीवाद पर सर्जनात्मक विमर्श की दृष्टि से यह उपन्यास इस दशक की एक उपलब्धि है।⁵

सन् १९९८ में गीतांजलि श्री का उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' प्रकाशित हुआ जिसमें हिन्दू सांप्रदायिकता का चित्रण लेखिका ने किया है। इस उपन्यास में लेखिका ने मठों और धर्म के नाम पर दोहन और आतंक फैलाने वाले संगठनों के राज-फाश किये हैं। भारत में सांप्रदायिक विचारधारा इतनी आसानी से अपने पैर न जमा पाती अगर देश के बुद्धिजीवियों ने इसके खिलाफ मुहिम जारी रखी होती। विडम्बना यह है कि देश के बुद्धिजीवियों ने सबसे ज्यादा देश को डुबोने में भूमिका अदा की है। सांप्रदायिक समस्या पर फरटोदार भाषणबाजी करना अलग बात है और वास्तविक जीवन में इससे लड़ना अलग बात। आज भी देश के पढ़े-लिखे लोग उतने ही या उससे भी ज्यादा दकियानूसी परंपरा और धर्म के गिरफ्त में हैं जितने वे पहले कभी हुआ करते थे। आज का बुद्धिजीवी घर बनाने से लेकर विवाह का स्थल तक तय करने के लिए यह देखना नहीं भूलता कि वह स्थल हिंदू बहुल इलाका है या मुस्लिम बहुल। इस उपन्यास में एक विश्वविद्यालय भी है जिसे हम ज्ञान का, उदार विचारों का, स्वस्थ मनुष्य तैयार करने का स्थल मानते हैं लेकिन बुद्धिजीवियों का जो रूप उभरकर इस उपन्यास में आया है वह न केवल निराशाजनक है बल्कि चीख-चीख कर यह उद्घोषणा भी करता है कि जब तक ऐसी छद्म बुद्धिजीविता जीवित रहेगी तब तक सांप्रदायिक समस्या का कोई समाधान निकल पाना मुश्किल है। उपन्यास में यह दिखलाया गया है कि कैसे एक मुस्लिम युवक तनाव की स्थिति में अकेला पड़ जाता है और कुछ लोगों को छोड़ दें तो जैसे पूरा शहर ही उसका दुश्मन बन जाता है।¹⁶ आलोच्य उपन्यास में यह भी दिखलाने का प्रयास किया गया है कि कैसे धर्म ने बाजारू रूप धर लिया है। चीख-चीखकर अपने रक्षार्थ लोगों को भड़काने की प्रवृत्ति का लेखिका ने खुलकर चित्रण किया है।

सन् १९९९ में भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में देश में बढ़ती हुई सांप्रदायिकता पर गहरी संवेदना के साथ विचार किया गया है। इस उपन्यास में सत्ता हासिल करने के लिए राजनीतिक और सांप्रदायिक शक्तियां किस प्रकार साधारण इंसान को ग्रास कर लेती हैं। लेखक ने

हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान की सीमा पर स्थित मेवात की पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखा है। लेखक ने इस अंचल में इस्लाम धर्मी 'मेव' नाम की जनजाति का चित्रण किया है जो अल्पसंख्यक हिंदुओं के साथ शान्ति और सद्भाव के साथ जिंदगी गुजर-बसर करती है। इस जनजाति के पूर्वजों ने बाबर के खिलाफ राणा साँगा का साथ दिया। विभाजन के बाद भी वे पाकिस्तान नहीं गये। इनके बीच धर्म, मजहब और जाति के नाम पर कोई भेदभाव नहीं है और पूरे इलाके में गंगा-जमुना संस्कृति प्रवाहित होती रहती है। ज्योंहि राजनीति का प्रवेश यहाँ हो जाता है वैसे ही मिली-जुली संस्कृति समाप्त हो जाती है। धार्मिक जुनून बाबरी मस्जिद विध्वंस और उसके बाद हुए सांप्रदायिक दंगों का रूप ले लेता है। समाज में ऐसे समय में आतंक, भय और अफवाह भी वैमनस्य का कारण बन जाती है। इस उपन्यास पर विचार करते हुए आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह कहते हैं- *"कथाकार ने जहाँ एक ओर आजादी के बाद के पेशेवर राजनेताओं के चरित्रों को उधेड़ा है, वहीं राष्ट्रीय राजनीति के बदले हिंदुओं और मुसलमानों की राजनीति करने वाले ठेकेदारों की शिनाख्त भी की है। इसे पढ़ते हुए बार-बार इस एहसास से गुजरना पड़ता है कि आजादी के बाद विस्थापन और पलायन का यथार्थ ही सबसे बड़ा यथार्थ नहीं है, हिंदुओं का कट्टर हिंदू और मुसलमानों का कट्टर मुसलमान में बदलते जाने का नंगा और तीखा यथार्थ भी है।"*¹⁷

सन् १९९९ में ही कथाकार कमलेश्वर का उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' प्रकाशित हुआ। सांप्रदायिक समस्या को ध्यान में रखकर लिखे गये समस्त उपन्यासों से यह उपन्यास बिल्कुल अलग ढंग में लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में कमलेश्वर ने समय को ही नायक बना दिया। इस समय के दरम्यान आये विभिन्न धार्मिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, विज्ञान एवं शिक्षा जगत् से जुड़े लोगों को कटघरे में खड़ा किया गया है। यह भले ही अदीब की अदालत हो लेकिन मानवता को शर्मसार करती और जनता को बेवकूफ बनानेवाली हर शख्सियत का नकाब यहीं उतारा जाता है। इस उपन्यास के संबंध में डॉ. विजय बहादुर सिंह कहते हैं- *"इसे पढ़ते हुए बार-बार हम अपने समय के धधकते सवालियों से रू-ब-रू*

होते हैं और हमारी चेतना में खदबदाहट और उबाल आने लगता है। हमारी जीवन संबंधी बनी बनाई समझ और धिसे पिटे मूल्य-संवेदन उलट-पुलट होकर अचकचा उठते हैं। देव सभ्यताओं वाले पुराणों और इतिहास आधारित राजवंशों की जो नई व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की गई है, वह पुराण और इतिहास लेखन के खतरनाक प्रयोजनों का ही खुलासा नहीं करती, पाठकों से साहस, संस्कारमुक्तता और तार्किकता की माँग भी करती है।¹⁸ दरअसल कमलेश्वर ने न केवल सांप्रतिक काल के खतरों से हमें रू-ब-रू करवाया है बल्कि आने वाले खतरों से भी हमें आगाह किया है। कमलेश्वर ने सांप्रदायिक विचारधारा के पीछे मौजूद पूँजीवादी एवं नवसाम्राज्यवादी ताकतों के चेहरों को भी बेनकाब किया है। कैसे इन ताकतों ने विश्व भर में अपने साम्राज्य को फैलाने के लिए युद्ध थोपे, नृशंस हत्याएं कीं और बर्बरता की सारी हदें पार कर दीं। आज ये शक्तियां ही विश्व में शांति की बात करती हैं। अपनी महत्वाकांक्षाओं की खातिर ही आज वे भारत के साथ खड़ी हैं। कल तक ये शक्तियां भारत विरोधी गुटों के साथ थीं।

इस क्रम में भीष्म साहनी के उपन्यास 'नीलू नीलिमा नीलोफर' का उल्लेख करना भी आवश्यक है जो सन् २००० में प्रकाशित हुआ। उपन्यासकार भीष्म साहनी ने आलोच्य उपन्यास के माध्यम से हिंदू-मुसलमान के बीच मौजूद वैमनस्य के प्रमुख कारण को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। दरअसल सामाजिक स्तर पर भले ही हिंदू और मुसलमान के बीच संपर्क बढ़ा है लेकिन वह अभी तक इस स्तर तक नहीं जा पाया है कि उनके बीच वैमनस्य खत्म हो। एक समय था जब आर्य और द्रविड़ों के बीच वैमनस्य था लेकिन कालान्तर में यह वैमनस्य बिल्कुल समाप्त हो चुका है। आज आर्य और द्रविड़ के बीच कोई द्वंद्व नहीं है। यह कैसे संभव हो पाया है इस पर राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का विचार है कि आर्य एवं द्रविड़ों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित होने के कारण आर्य और द्रविड़ों के आराध्य, रीति-रिवाज, परम्पराओं एवं पूजा-पद्धतियों का प्रवेश एक-दूसरे के दैनिक जीवन में होने लगा। धीरे-धीरे समस्त असमानताएं मिटने लगीं और उसके स्थान पर जिस मिली-

जुली संस्कृति ने स्थान लिया उसे हिंदू संस्कृति समझा जाने लगा।

वर्ष २००२ में कथाकार तरसेम गुजराल का उपन्यास 'जलता हुआ गुलाब' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की कथा उस समय से जुड़ी हुई है जब खालिस्तान की मांग जोरों पर थी। जब तत्कालीन केन्द्र सरकार ने इस आंदोलन को रोकने के लिए कड़े कदम उठाये। जब इसके विरोध में प्रधानमंत्री की हत्या कर दी गई। आलोच्य उपन्यास में अविनाश नामक पात्र की मानसिक स्थिति के माध्यम से समाज में आये बदलाव को दिखलाने की कोशिश की गई है— 'उसे महँगाई से डर लगता था। उसे बहुत जला देने और दहेज खा लेने वाले सभ्य राक्षसों से डर लगता था। वह मंत्रियों के बयानों से डरता था। वह दंगों से बहुत भयभीत था। शिवसेना और दमदमी टकसाल उसे डराते थे। उसे मौलवियों, ब्राह्मणों, ग्रन्थियों और पादरियों से डर लगता था। उसे ज्योतिषियों, साँपों और जहालत से भरी बूढ़ी औरतों से डर लगता था। वह अमेरिका और रूस द्वारा तैयार की जा रही बारूद की फसल से भयभीत था। आरक्षण के कोटे से वह डरता था। उसे उन कारों से डर लगता था जो सड़क पर चलते हुए इतनी धूल उड़ाती हैं कि उस धूल से आस-पास की झोपड़ियाँ भर जाती हैं। उसे मौत उतना भयभीत नहीं कर पायी जितना कि कचहरियों में इन्साफ के लिए तारीखें सुनती जिन्दगियाँ।'¹⁹ जाहिर है ये सारी चीजें भ्रूंडलीकरण के फलस्वरूप उभरी हैं। भय, अजनबीपन, बेगानियत जैसी चीजें मनुष्य में अमानवीय तत्वों को जन्म देती हैं जिनसे विकृतियां उभरने लगती हैं। अविनाश की दशा कुछ ऐसी ही है। लेखक ने बड़ी कुशलता के माध्यम से आज के मध्यवर्गीय समाज के पात्रों का चित्रण कर उनकी मानसिक दशा को खोलकर रख दिया है।

बाबरी मस्जिद ध्वंस और उसके बाद फैले सांप्रदायिक दंगों को ध्यान में रखते हुए दूधनाथ सिंह का वृहताकार उपन्यास 'आखिरी कलाम' सन् २००३ में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने धर्म को ही कटघरे में ला खड़ा किया है। पाकिस्तान से कटकर बंगलादेश के निर्माण से यह प्रमाणित हो चुका था कि सांप्रदायिकता का धर्म से कोई लेना-देना नहीं है और इससे भारत की

धर्मनिरपेक्ष छवि को बल मिला लेकिन जिस ढंग से चंद कारसेवकों के हुजूम ने बाबरी मस्जिद को ढहा दिया उससे भारत की धर्मनिरपेक्षता न केवल शर्मसार हुई बल्कि कटघरे में खड़ी हो गई। इस उपन्यास का पात्र तत्सत पांडे ब्राह्मण होने के बावजूद धर्मनिरपेक्ष है और ब्राह्मणवाद का विरोधी है। ब्राह्मणवाद को वह देश के लिए खतरनाक मानता है। आज के समय में धर्मनिरपेक्षता के नाम पर छद्म-धर्मनिरपेक्षता स्थान ले रही है। आलोचक वीरेन्द्र यादव अपनी पुस्तक 'उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता' में इसे धर्मनिरपेक्षता के आध्यात्मीकरण के रूप में देखते हैं। दिनों-दिन बढ़ती सांप्रदायिक चेतना के कारणों की तलाश दूधनाथ सिंह ने अपने उपन्यास में की है। कैसे साम्राज्यवादी शक्तियां भारतीय जनता को उन्हीं के छूरे से रेत रही हैं। इस पर उपन्यास के मुख्य पात्र तत्सत पांडे के विचार द्रष्टव्य हैं 'विदेशों में भी, जहाँ हर तरह की सुविधाओं से ऊबे हुए लोगों में धर्म के भारतीय सर्कस के प्रति बड़ा आकर्षण है। वे अब हमारे धर्म को महान बतलाकर हमें ही पददलित करना चाहते हैं।' ¹⁰ धर्म से सस्ता और आसान और कोई दूसरा माध्यम नहीं है जिसके जरिये साम्राज्यवादी शक्तियां अपना स्वार्थ साध सकें। यह बात स्वाधीनता के पहले भी हुकूमत करनेवाले जानते थे और अब भी हुकूमत करनेवाले जानते हैं।

सन २००४ में कथाकार हरियश राय का उपन्यास 'नागफनी के जंगल में' प्रकाशित हुआ। गुजरात में हुए भीषण दंगे को केन्द्र में रखकर यह उपन्यास लिखा गया है। निस्संदेह बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दा लेखक ने उठाया है लेकिन कहीं न कहीं इसे पढ़कर निराशा होती है क्योंकि जिस रूप में यह मुद्दा आना चाहिए था वह उस रूप में नहीं आ सका है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि लेखक ने कई स्थलों पर पुनरावृत्ति की है। संवेदना की कमी का अहसास बार-बार उपन्यास को पढ़ते हुए महसूस होता है। मुद्दा सांप्रदायिकता को लेकर है तो पुनरावृत्ति तो होगी ही लेकिन उसे अभिव्यक्त करने के तरीके अलग-अलग होने चाहिए।

कथाकार असगर वजाहत का उपन्यास 'कैसी आग लगाई' २००४ में प्रकाशित हुआ जिसे आलोचकों ने हाथोंहाथ लिया। इसकी सबसे बड़ी वजह है इसका वृहत चिंतन फलक। उपन्यासकार उपन्यास की भूमिका

'एक अनपढ़ का विलाप' के तहत अपने साधारण मस्तिष्क में उठते हुए सवालों से कई असाधारण बातें कहता है— 'पाकिस्तानी अणु वैज्ञानिक डॉ. खान को सजा दी जा रही है कि उसने परमाणु टेक्नालॉजी ईरान और सीरिया को दी है, तो जनाब बाकी दूसरे देशों को यह तकनीक कहाँ से मिली, मैं एटमबम आदि का कट्टरविरोधी हूँ। अमेरिका ने सबसे पहले एटमबम बनाया और जापान पर गिराया। यानी अणु तकनीकी सबसे पहले अमेरिका में विकसित हुई फिर रूस यानी उस जमाने के सोवियत यूनियन में। संसार के अधिकतर देश जिन्होंने अणु बम बनाया वे कहीं न कहीं अमेरिका और रूस के ऋणी हैं। अब सवाल ये है कि अमेरिका या रूस अणुबम बनाने की तकनीक किसी देश को देते हैं तो वह मानवता के लिए खतरा नहीं होता। पर जैसे ही यह काम कुछ अन्य देश करने लगते हैं, यह मानवता के लिए खतरा बन जाता है। क्यों? लेकिन यह सवाल कोई नहीं पूछ रहा है।' ¹¹

अमेरिका कहता है कि एटमबम सामूहिक नरसंहार का हथियार है। इसलिए वह उसका कट्टर विरोधी है।

अब सवाल है कि सामूहिक नरसंहार का हथियारों से मतलब क्या है? एटम बम से हजारों, लाखों लोग मर सकते हैं लेकिन टैंक, फाइटर प्लेन आदि से सैकड़ों लोगों को मारा जा सकता है। अमेरिका हथियारों का सबसे बड़ा विक्रेता है। उसके हथियारों से सामूहिक नरसंहार नहीं होता; पर नरसंहार तो होता है और नरसंहार अगर लगातार किया जाए तो सामूहिक नरसंहार जैसा ही नुकसान हो सकता है। क्या अमेरिका ने मध्य एशिया में सामूहिक नरसंहार नहीं किए थे? पर उस समय सामूहिक नरसंहार के विरोध में वह वातावरण क्यों नहीं बन पाया था जो आज है? या उन हथियारों के खिलाफ विश्व जनमत क्यों नहीं बन रहा है जो अमेरिका बेचता रहता है? इसलिए मेरी समझ में यह नहीं आता कि सामूहिक नरसंहार के हथियार कौन-से हैं? और नरसंहारी कौन है?

मेरी समझ में यह भी नहीं आता कि ग्लोबलाइजेशन और उदारीकरण का केवल यह मतलब क्यों है कि एक देश को दूसरे देश में जाकर व्यापार करने की छूट है तथा वहाँ अपना सामान बेचने की अनुमति है। ग्लोबलाइजेशन और उदारीकरण का यह अर्थ क्यों नहीं

लगाया जाता कि एशियाई मजदूर अपनी मेहनत संसार में जहाँ चाहे जाकर बेच सकता है। एशियाई, अफ्रीकी, लातीनी अमरीकी और अरबी जहाँ चाहें जाकर काम करते हैं? उदारीकरण और पेटेन्ट का क्या सम्बन्ध है? उदारीकरण का मतलब तो यह है कि सब कुछ सबके लिए खुला है... 'संसार उदार हो गया है, एकाधिकार नहीं है। लेकिन पेटेन्ट का मतलब तो उदार होना नहीं है। मान लीजिए भारत 'शून्य' को पेटेन्ट करा ले? मान लीजिए अमेरिका 'टेलीफोन' पेटेन्ट करा ले? मतलब यह है कि उदारीकरण और पेटेन्ट की वकालत एक साथ करने का मतलब क्या है?'⁴¹ निश्चित रूप से कथाकार के उपरोक्त विचार कुछ ऐसे सवाल खड़े करते हैं जिनका उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता। यह साम्राज्यवादियों द्वारा रचा गया ऐसा चक्रव्यूह है जिसमें तीसरी दुनिया के अधिकतर देश अभिमन्यू की भांति फंसे हुए हैं। साम्राज्यवादी शक्तियों के चंगुल में फंसे ऐसे ही एक दौर को कलमबद्ध करने का प्रयास लेखक ने इस उपन्यास में किया है।

सन् २००६ में महुआ माजी ने 'मैं बोरिशाल्लू' नामक उपन्यास लिखा जिसमें बंगलादेश के बोरीशाल नामक इलाके को कथा केन्द्र में रखकर लेखिका ने सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार किया है। यह उपन्यास पाकिस्तान निर्माण से लेकर बंगलादेश गठन से होते हुए बाबरी मस्जिद के ध्वंस तक की यात्रा दर्शाता है। उपन्यास के अंत में केष्टो अपना सब कुछ खो चुका है लेकिन जिस भूमि के लिए उसने और उसके परिवार वालों ने सब कुछ न्यौछावर कर दिया था, वहीं वह बेगनियत का शिकार हो जाता है। उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या धर्म, भाषा, जाति, वर्ण के आधार पर किसी भी राष्ट्र में विभाजन सही है? उपन्यास से आद्योपांत गुजरने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि धर्म, भाषा, जाति, वर्ण के आधार पर किसी भी राष्ट्र का विभाजन गलत है। यदि धर्म के आधार पर किया गया विभाजन सही होता तो पाकिस्तान से बंगलादेश भाषा के नाम पर अलग न होता और भाषायी आधार पर बने राष्ट्र बांग्लादेश में भारत में हुए बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद हिंदुओं के खिलाफ दंगे न होते, उनकी नृशंस हत्या न होती। इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं

कर सकता कि बांग्लादेश के निर्माण के समय बंगाली मुसलमानों ने जितनी यातनाएं सही थीं, उतनी ही बंगाली हिंदुओं ने भी यातना सही थीं। बांग्लादेश के निर्माण में बंगाली हिंदुओं का उतना ही योगदान है जितना बंगाली मुसलमानों का। फिर धर्म के नाम पर क्यों हिंदुओं को मारा गया। उपन्यास की मुख्य चिंता मनुष्य के लगातार जानवर बनते जाने के साथ रही है।

सन् २००६ में मोहम्मद आरिफ ने अपने उपन्यास 'उपयात्रा' के साथ हिन्दी साहित्य के धरातल पर दस्तक दी। इस उपन्यास में बाबरी मस्जिद के ध्वंस के दो दिन पहले से लेकर उसके एक दिन अर्थात् कुल मिलाकर तीन दिन की कथा और घटनाओं का चित्रण किया है। इस उपन्यासों में मो. आरिफ ने फरीद और उसके परिवार की कथा के द्वारा यह दिखलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार ६ दिसम्बर के पहले समाज में जहर घोला जा रहा था। वे लोग जो हुसैनपुरा में बसे हुए थे कारसेवकों के गगनभेदी नारों से भयभीत हो गये थे। कुछ लोग घर-बार छोड़ कर जाने को विवश थे। लेखक ने बड़ी ही तन्मयता के साथ यह दर्शाने का प्रयास किया है कि हुसैनपुरा में बसनेवाले मुसलमान जिस रूप में ईद-बकरीद में जश्न मनाते थे, रामनवमी भी उसी प्रकार मनाते थे। रामायण, महाभारत के लिए हर रविवार को घर का काम-काज छोड़कर टेलीविजन के सामने बैठ जाते थे। वनवास से लौटने के बाद जब राम अयोध्या वापस आये तो हुसैनपुरा के मुसलमानों ने भी 'सियावर रामचन्द्र की जय' का नारा लगाया था। हर रामनवमी को फरीद के बाबा लोगों को भोजन कराते थे। उसी हुसैनपुरा में लोग दहशत में थे कि कहीं उनकी मस्जिद भी खतरे में तो नहीं। मानवीय मूल्यों को धक्का तब लगता है जब फरीद के बाबा पास के गांव से हथियारों की मदद लेने जाते हैं। यह परिस्थितिजन्य किया गया कार्य था लेकिन दिलों में विभाजन तो हो ही गया।

सन् २००७ में व्यास मिश्र का पहला उपन्यास 'अग्नि पाथर' प्रकाशित हुआ। कोयला खदानों के क्षेत्र को इस उपन्यास की कथा भूमि के रूप में रखा गया है। इस उपन्यास में लेखक ने स्वातंत्र्योत्तर भारत की हिंदू-मुस्लिम समस्या पर विचार किया है। इस उपन्यास में

लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार अफवाहों के द्वारा दोनों समुदायों के बीच एक-दूसरे के लिए घृणा पैदा करने की कोशिश की जाती है। सांप्रदायिक दंगों की आड़ में किस प्रकार आपराधिक तत्त्व भी हीरो बन जाते हैं। दंगों के दौरान इन आपराधिक तत्त्वों को भी सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है। वहीं वोट की राजनीति के चक्कर में नेताओं को भी अपने स्वार्थ साधते हुए इस उपन्यास में दिखलाया गया है। बाबरी मस्जिद ध्वंश के पश्चात जिस प्रकार का सांप्रदायिक तांडव इस देश में हुआ है उस पर लेखक अफसोस जाहिर करता हुआ नजर आता है। स्वाधीन भारत में सांप्रदायिक शक्तियों की लगातार बढ़ती प्रसिद्धि और सामाजिक स्वीकृति पर लेखक ने गहरी चिंता व्यक्त की है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिंदी उपन्यास की सांप्रदायिक समस्या विरोधी सुदृढ़ परंपरा रही है। उपरोक्त उपन्यासकारों के उपन्यासों में कहीं भी निराशावादी स्वर देखने को नहीं मिलता। हर उपन्यास में कहीं न कहीं ऐसे पात्रों की सृष्टि जरूर की गई है जिनमें मानवतावादी विचार अभी भी मौजूद हैं, जिनका मस्तिष्क अभी भी सचेत है, सक्रिय है। इन उपन्यासों से यह आशा जरूर बंधती है कि कभी न कभी ऐसा वक्त जरूर आयेगा जब अपने किये पर पछताते हुए लोगों को यह जरूर एहसास होगा कि उन्होंने क्या किया। यह ठीक उसी प्रकार का होगा जिस तरह विभाजन से पहले भारतीय मुसलमानों के एक बड़े तबके ने विभाजन का समर्थन किया था लेकिन विभाजनोपरान्त की तस्वीर से उन्हें यह समझने में देर न लगी कि उनका यह निर्णय कितना गलत था। तब करने के लिए कुछ भी उपाय न थे और न ही आने वाले भविष्य में कोई उपाय होंगे। उग्र हिंदुत्ववादी शक्तियां भारत को पाकिस्तान की राह पर ले जा रही हैं जहां किसी भारत विरोधी अभियान के लिए मुजाहिदीन तैयार किये जाते हैं जिन्होंने अब वहीं के बाशिन्दों को निशाना बनाना आरंभ

कर दिया है क्योंकि वे अब इस्लामी कट्टरपंथी बन चुके हैं। भारत का भी यही हथ्र होना तय है अगर भारतीय अभी से सचेत नहीं हो जाते। कहते हैं कि सुबह का भूला अगर शाम को घर लौट आये तो उसे भूला नहीं कहते लेकिन देर इतनी भी न हो कि शाम की जगह रात ही हो जाये।

संदर्भ:

1. कम्यूनलिज्म एंड ग्लोबलाइजेशन, इजाज अहमद, श्री ऐम्से प्रेस, नई दिल्ली, संस्करण-२००२, पृष्ठ संख्या-९६-९७
2. वही, पृष्ठ संख्या-९७
3. वही, पृष्ठ संख्या-९८
4. वही, पृष्ठ संख्या-९८-९९
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण-संवत् २०५७ वि., पृष्ठ संख्या-१
5. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-२००५, पृष्ठ संख्या-३९५
6. संवाद-६, शोध पत्रिका, हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग, वर्ष-२०१२, पृष्ठ संख्या-८१
7. उपन्यास समय और संवेदना, विजय बहादुर सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-२००७, पृष्ठ संख्या-२२०
8. वही, पृष्ठ संख्या-२०९
9. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-२००५, पृष्ठ संख्या-५७
10. जलता हुआ गुलाब, तरसेम गुजराल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-२००२, पृष्ठ संख्या-२२०
11. आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-२००७, पृष्ठ संख्या-२६३

संपर्क : मो. 09832861510

प्रेमचंद और दलित भ्रमर्या

डॉ. राजीव कुमार वर्मा

प्रेमचंद के दलित मुक्ति संबंधी चिंतन को लेकर हिन्दी लेखकों एवं विचारकों में काफी विवाद रहा है। प्रेमचंद के जीवन काल के दौरान भी उनके लेखन को लेकर विवाद उठते रहते थे। उनके जीवन काल में ही उन्हें घृणा का प्रचारक, ब्राह्मण विरोधी इत्यादि कहा गया। परंतु, प्रेमचंद ने इस तरह के आरोपों को कभी गंभीरता से नहीं लिया तथा अपना लेखन कार्य, और ज्यादा गति से चालू रखा। इन आरोपों पर प्रतिक्रिया करते हुए एक बार बालकृष्ण शर्मा नवीन ने कहा था, 'प्रेमचंद के निंदक मर जायेंगे, लेकिन प्रेमचंद जीवित रहेंगे।' यद्यपि प्रेमचंद पर आक्रमणों का यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं हुआ। प्रेमचंद के देहांत के ६८ साल बाद उनकी १२५वीं जयन्ती पर ३१ जुलाई, २००४ को, उनके बहुचर्चित उपन्यास 'रंगभूमि' को सार्वजनिक रूप से जलाया गया। उन्हें 'दलित विरोधी' कहा गया। उनकी 'कफन' कहानी को भी दलित विरोधी कहा गया। कुछ साल पहले उन्हें 'सामंत का मुंशी' और 'जारकर्म का दोषी' कहा गया। बावजूद इसके बालकृष्ण शर्मा का कथन सार्थक है और प्रेमचंद आज भी हमारे बीच जीवित हैं।

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती तीन-चार दशकों में दलित समाज पर जितनी गहराई, संवेदनशीलता, सूक्ष्मता और उसके व्यापक परिदृश्य पर प्रेमचंद ने लिखा, उतना किसी साहित्यकार में देखने को नहीं मिलता है। प्रेमचंद की दृष्टि में राष्ट्रीय मुक्ति का जो नक्शा था, उसका घनिष्ठ संबंध गरीब, पीड़ित तथा शोषित वर्ग, जिन्हें दलित कहा जाता है, से था। इसी का परिणाम था कि संभवतः हिन्दी साहित्य में पहली बार कोई दलित उपन्यास का नायक बनकर उभरता है। परंतु उनके उपन्यास 'रंगभूमि' को इस आधार पर 'दलित विरोधी' कहा गया कि उसमें सूरदास का उल्लेख जाति सूचक नाम के साथ किया गया है। यद्यपि 'रंगभूमि' का नायक सूरदास की जाति चमार होने का स्पष्ट उल्लेख करके भी प्रेमचंद ने उसे इतना सम्मानीय पात्र बनाया है कि अपने को ऊँची जाति कहलाने वाले भी उसकी कुर्बानी और चुनौती के सामने तुच्छ नजर आते हैं। इस तरह प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'गबन' तथा अपने सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' में भी दलितों के संघर्ष को बहुत ही जोरदार ढंग से चित्रित किया है। 'गोदान' के बहुचर्चित सिलिया-मातादीन प्रसंग में जिस आक्रामक ढंग से मातादीन के मुँह में हड्डी डालकर उसे चमार बनाया जाता है और उसके पिता, पं. दातादीन को भी -चमारिन स्त्री सिलिया को उसके पुत्र द्वारा भोग्या बनाने पर उसे दंडित किया जाता है, उससे प्रेमचंद का चरित्र दलित विरोधी न होकर दलित मुक्ति का पक्षधर बनकर उभरता है। उपन्यासों के अतिरिक्त दलित जीवन को मार्मिक रूप से चित्रित करने वाली प्रेमचंद की लगभग पचास कहानियाँ हैं। इसमें- 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआँ', 'मंदिर', 'मंत्र १' और 'मंत्र २', 'घासवाली', 'सवा सेर गेहूँ', 'शूद्रा', 'सौभाग्य के कोड़े', 'दूध का दाम', 'देवी', 'कफन'

आदि प्रमुख हैं। यद्यपि 'कफन' कहानी को दलित विरोधी कहा गया है, परंतु इस कहानी का वस्तुगत ढंग से अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि इसमें व्यवस्था द्वारा उत्पन्न अलगाव, वर्चस्ववादी और शोषक वर्गों द्वारा गरीब व दलित वर्गों के क्रूर शोषण का वर्णन मिलता है। यद्यपि आजकल लगभग सभी दलित चिंतक यह स्वीकार करने लगे हैं कि 'कफन' कहानी दलित विरोधी नहीं है। उदाहरण स्वरूप दलित चिंतक कैवल भारती ने वर्ष १९९६ में 'प्रेमचंद साहित्य संस्थान' वाराणसी द्वारा आयोजित 'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद' विषयक राष्ट्रीय परिसंवाद में 'कफन' कहानी को दलित विरोधी कहा था, परंतु अपने विचार में संशोधन करते हुए लगभग दस साल बाद लिखा, 'क्या प्रेमचंद वास्तव में दलित-विरोधी थे? दस साल पहले उनकी 'कफन' कहानी को लेकर मैं इसी धारणा का हो गया था। पर, जैसे-जैसे मैं उनकी अन्य कहानियाँ, उपन्यास और लेख पढ़ता गया, मैं अपनी धारणा से बाहर आने लगा। मैंने अनुभव किया कि १९३६ तक के कालखंड में प्रेमचंद अकेले लेखक हैं, जिनसे साहित्य में दलित विमर्श की शुरुआत होती है'। (सं. कुँवरपाल सिंह एवं नमिता सिंह, वर्तमान साहित्य, प्रेमचंद विशेषांक, जुलाई २००५, अलीगढ़, पृ. ९१)।

प्रेमचंद ने दलितों के विषय में सबसे पहले अपने कथा-साहित्य में ही विचार करना प्रारंभ किया था। परंतु बाद में एक पत्रकार और विचारक की हैसियत से उन्होंने अपने पत्रों- मासिक 'हंस' (१९३०) और साप्ताहिक 'जागरण' (१९३२) में समय-समय पर संपादकीय, लेखों व टिप्पणियों के रूप में भारतीय समाज में व्याप्त दलित समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। पृथक् निर्वाचन के मुद्दे पर जब सितंबर, १९३२ में गांधी जी ने यरवदा जेल में आमरण अनशन प्रारंभ किया। गांधी जी के अनशन के एक दिन पूर्व १९ दिसम्बर, १९३२ के 'जागरण' में 'महान तप' शीर्षक एक लेख में प्रेमचंद ने लिखा— 'कल यरवदा जेल में वह महान् तप आरंभ होगा, जिसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है। भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी कठिन तपस्याएँ की गयी हैं, लेकिन यह तपस्या अभूतपूर्व है। भारत के इतिहास में ही नहीं, संसार के इतिहास में भी इसकी नजीर न मिल सकेगी। ज्ञान के लिए, मोक्ष के लिए, प्रभुता के लिए, औरों ने भी तप किये हैं, पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का संकल्प महात्मा गांधी

ही की कीर्ति है।... धन्य हो महात्मा! राष्ट्र की सेवा में तुम पहले ही सर्वस्व अपना अर्पण कर चुके थे। एक प्राण रह गया था। उसे भी राष्ट्र ही की भेंट करने जा रहे हो' (सं. अमृतराय, प्रेमचंद: विविध प्रसंग, भाग २, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८०, पृ. ४३७)। यरवदा जेल में अनशन शुरू करने के एक सप्ताह के अंदर गांधी जी की हालत बिगड़ने लगी। देश के कोने-कोने से सवर्ण जातियों और दलितों के नेता पूना पहुँचे तथा २४ सितम्बर, १९३२ को यरवदा जेल में एक लिखित समझौता हुआ। इस पर प्रेमचंद ने २६ सितम्बर, १९३२ के 'जागरण' में 'हमारा कर्तव्य' शीर्षक लेख में ब्रिटिश साम्राज्य की पराजय तथा गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीयता की विजय घोषित करते हुए लिखा— 'उस महान आत्मा के अनशन व्रत ने, उसकी तपस्या ने, केवल सात दिनों में यह दिखला दिया कि वास्तव में तपस्या कितनी बलवती होती है। उस महान आत्मा की तपस्या ने, ब्रिटेन के महान राजनीतिज्ञों के द्वारा तैयार की हुई उस सुदृढ़ दीवार को, जो हिन्दू अछूतों को अलग करने के लिए बड़े कौटिल्य के सीमेंट से तैयार की गयी थी, विध्वस्त कर दिया। छूत-अछूत का वह मसला, जो आगामी गृह-युद्ध का संकेत कर रहा था, और इसी के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने जिसकी नींव को दृढ़ किया था, हल हो गया' (वही, पृ. ४४०)। यद्यपि प्रेमचंद केवल राजनीतिक उपलब्धि से ही संतुष्ट नहीं होते हैं, बल्कि इस समस्या को खत्म करने के लिए अपने कर्तव्य पर जोर देते हैं। प्रेमचंद वर्णाश्रम में किसी भी आंशिक संशोधन की बात न कर उसे जड़ से समाप्त करने की पहल करते हैं। इतना ही नहीं, प्रेमचंद उच्च जातियों से प्रश्न करते हुए लिखते हैं, 'क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में यह छुआछूत उन्हें धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है? नहीं, कोई भी यह नहीं कह सकता। एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ, वर्ष दो वर्ष चाहे उनकी छाती को ठंडा भले ही कर दे, पर आगे वह उनकी पुरानी से पुरानी, दृढ़ से दृढ़ बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेगा। वे स्वार्थ के जिस सुन्दर खिलौने से बच्चों की तरह खिलवाड़ कर रहे हैं, वह असल में डायनामाइट है, जो उनकी सात पुश्तों को ध्वस्त कर डालेगा। इसे दूर फेंक देना चाहिए, वरना फिर पश्चाताप का समय न मिलेगा।' यद्यपि प्रेमचंद को यह आशा थी कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय से अछूतेपन की

थोथी भावना निकाल दे, तो दिन दूर नहीं कि यह कलंक समाप्त हो जायेगी। इस लेख में प्रेमचंद ने गांधी जी के अछूतोद्धार कार्य का पूर्ण समर्थन करते हुए उनके कथन को उद्धृत किया, जिसमें एक बार गांधी जी ने कहा था— ‘अस्पृश्यता या छुआछूत अगर हिन्दू धर्म में हो, तो मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें शैतानियत भरी हुई है, धर्म नहीं। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू धर्म में यह सब कुछ नहीं है। जब तक प्रत्येक हिन्दू अपने चमार भंगी आदि भाइयों को भी अपने सगे भाई की तरह हिन्दू न समझेंगे, तब तक मैं उन्हें हिन्दू ही नहीं समझूँगा। मनुष्य तिरस्कार और दया इन दो चीजों के साथ नहीं रह सकता।’ प्रेमचंद ने गांधी जी के इस उद्धरण को प्रस्तुत करने के बाद इस लेख का सार इन शब्दों में प्रस्तुत किया, ‘देश के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य इस समय यही है कि महात्मा जी के इन वचनों पर ध्यान दे, विचार करें और उन्हें आचरण में लाकर देश के और धर्म के कलंक को दूर करें। ... ऐसा न हो कि उनकी उदासीता से महात्मा जी को फिर अपने पर संकट उपस्थित करना पड़े।’ प्रेमचंद के इन दो लेखों से पता चलता है कि उन्होंने गांधी जी के अछूतोद्धार कार्यक्रम का जबरदस्त समर्थन किया, वहीं डॉ. अम्बेडकर के पक्ष में कोई टिप्पणी नहीं की। यद्यपि प्रेमचंद गांधी जी से भी दो कदम आगे निकल जाते हैं। जहाँ गांधी जी अछूतपन को हिन्दू धर्म का कलंक कहते हैं, वहीं प्रेमचंद इसे देश और धर्म दोनों का कलंक मानते हैं।

सितम्बर, १९३२ में जब महात्मा गाँधी के अनशन-व्रत से देश भर में अछूतोद्धार का व्यापक आंदोलन चल रहा था, तब काशी के कुछ मुट्ठी-भर पंडित ‘वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ’ के बैनर तले इसका विरोध कर रहे थे। इस पर प्रेमचंद ने ‘वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ’ की कड़ी आलोचना करते हुए ५ अक्टूबर, १९३२ के ‘जागरण’ में ‘काशी का कलंक’ शीर्षक टिप्पणी में लिखा, ‘सरकारी साम्प्रदायिक निर्णयों द्वारा करोड़ों अछूत भाई हिन्दू समाज से अलग हुए जा रहे थे— उन्हें ‘वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ’ ने क्यों नहीं बचा लिया? और जब महात्मा अपने प्राणों का बलिदान करके उन्हें बचाने लगे, तो वर्णाश्रम और सनातनी कहे जाने वाले काशी के कुछ शास्त्रोपजीवी पंडितों ने महात्मा जी को सार्वजनिक सभा में अपशब्द तक कह डाले ... संयुक्तप्रांत का दौरा करते समय महात्मा गांधी विगत वर्ष काशी में आये, तो केवल शास्त्राभिमानी पंडितों ने ही काले झंडे दिखाकर उनका स्वागत किया। ... महात्मा

जी समस्त भारत में घूम आये थे, पर कहीं भी किसी सनातनी ने उनका अपमान नहीं किया था, किंतु काशी ने अपने सिर कलंक ले ही लिया। इससे यही सिद्ध हुआ कि भारत में और कहीं कोई सनातनी है ही नहीं, केवल काशी में ही मुट्ठी भर बच गये हैं। ... वे लोग ‘दूलह की चाची’ और ‘अपने मुँह मियाँ मिट्टू’ बनना चाहते हैं, पर नहीं बन पाते, और कभी बन भी नहीं सकते’ (वही, पृ. ४४३-४४) प्रेमचंद का कहना था कि ऐसे समय में जब सारा देश अछूतों को अपनाने और गले लगाने के लिए तैयार है, तब मुश्किल से काशी के कुछ सौ सनातनी इसके विरोध में आवाज उठा रहे हैं। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि जिस मंदिर में अछूत नहीं जायेंगे, उसमें तो हम भी नहीं जायेंगे तथा ऐसे पंडा या पुजारी या पंडित को, जो महात्मा जी को धर्मद्रोही और अहिन्दू कहेगा, उसे किसी प्रकार का दान या चढ़ावा नहीं देंगे।

१४ नवंबर १९३२ के ‘जागरण’ में प्रेमचंद ने ‘हरिजनों के मंदिर में प्रवेश का प्रश्न’ शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी। इसमें उन्होंने चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि यदि समय के साथ अछूतों के मंदिर प्रवेश का प्रश्न हल नहीं हो जाता है, तो भय है कि महात्मा जी फिर न अनशन शुरू कर दें। वहीं दूसरी तरफ जहाँ डॉ. अंबेडकर का विचार था कि अछूतों को मंदिर प्रवेश की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी इस बात की कि साधारण हिन्दू उनसे सज्जनता का व्यवहार करें और उन्हें अपने बराबर समझें। यहाँ महात्मा गांधी से उनका मतभेद स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। नवम्बर, १९३२ में काशी के सनातनधर्मी नेताओं ने अछूतों के मंदिर प्रवेश के विरुद्ध जुलूस निकाला, जिसमें संस्कृत पाठशाला के दो-द्वार छात्र हाथों में लाल झण्डे लिये हाँक लगाते चल रहे थे— ‘अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है’, तो प्रेमचंद ने २१ नवम्बर, १९३२ के ‘जागरण’ में ‘अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है’, शीर्षक सम्पादकीय में इसकी कड़ी आलोचना की। उन्होंने पुरी के शंकराचार्य को ‘जाति के दलित और पीड़ित अंग को ठोकर मारने’ वाला की संज्ञा देते हुए लिखा, ‘फिर क्यों ना धर्म का संसार में हास हो, क्यों न रूस वाले धर्म को अफीम का नशा समझें, क्यों न गिरजे ढाये जायँ और धर्म को कलंकित करने वाले इन स्तम्भों का समाज से बहिष्कार कर दिया जाय’ (वही, पृ. ४४७)। गांधी जी जहाँ तत्त्वों के हृदय परिवर्तन की बात करते थे, तो वहीं प्रेमचंद उनके सामाजिक बहिष्कार की बात करते हैं।

प्रेमचंद ऐसे पंडितों को मूर्ख की संज्ञा देते हैं तथा धर्म का मूल तत्त्व आत्मा की एकता मानते हैं। वे आगे लिखते हैं, 'धर्म का मूल-तत्त्व आत्मा की एकता है। जो आदमी इस तत्त्व को नहीं समझता, वह वेदों और शास्त्रों का पंडित होने पर भी मूर्ख है; जो दुःखियों के दुःख से दुःखी नहीं होता, जो समाज में ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र के भेद को बढ़ाता है, वह पंडित होकर मूर्ख है।' प्रेमचंद के विचार गांधी जी से कहीं अधिक प्रगतिशील और क्रांतिकारी थे। गांधी जी मात्र हिन्दुओं का दलितों के प्रति हृदय परिवर्तन चाहते थे। वेद-शास्त्रों और पौराणिक ग्रंथों के प्रति उनके मन में अनन्य श्रद्धा थी। लेकिन प्रेमचंद हिन्दू धर्म के साथ-साथ हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों और शास्त्रों, पंडे-पुरोहितों और उनके आडम्बर, ढकोसलों के घोर विरोधी थे, इसीलिए हिन्दू धर्म के नेताओं के पाखण्ड की धज्जियाँ उड़ाते हुए इसी टिप्पणी में आगे लिखा, 'अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं, अछूत कोई मंदिर बनावे, आप दल-बल के साथ जायेंगे, मंदिर में देवता की स्थापना करेंगे, तर माल खायेंगे- हाँ अछूत ने उसे छुआ न हो-दक्षिणा लेंगे, इसमें कोई पाप नहीं, न होना चाहिए, लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जायेंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरे के स्पर्श से अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है, जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाय।' अछूतों के मंदिर प्रवेश नहीं करने देने के पीछे पाखंडी ब्राह्मणों का तर्क था कि उनकी आदतें गंदी हैं, वे रोज स्नान नहीं करते, मद्यपान करते हैं। इस पर प्रेमचंद ने पाखण्डी ब्राह्मणों की खबर लेते हुए लिखा, 'इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण- और वह भी तिलकधारी- निकल आयेंगे, फिर भी वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों के घर में चमारियाँ हैं। फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती, किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो, कितना ही आचारवान् हो, वह मंदिर में नहीं जा सकता। क्या इसी नीति पर हिन्दू धर्म स्थिर रह सकता है?' जब नागपुर में हरिजन बालकों के लिए अलग छात्रावास बनाया गया, तो ५ दिसम्बर, १९३२ के 'जागरण' में इसका विरोध करते हुए प्रेमचंद ने लिखा, इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं, और दृढ़ होगा। उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिए।' (वही, पृ. ४५०)

१८ दिसम्बर, १९३२ को जब पूरे भारत में 'हरिजन-दिवस' के रूप में मनाया गया तो प्रेमचंद ने

इसका जोरदार समर्थन करते हुए २६ दिसम्बर, १९३२ के 'जागरण' में 'पावन तिथि' शीर्षक से संपादकीय लिखा। और उन्होंने 'दैवी-सम्पद' उपशीर्षक में लिखा, 'हमारे जितने पर्व हैं, वे सभी किसी आध्यात्मिक विजय की यादगार हैं। १८ दिसम्बर को भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जो पावन पर्व मनाया गया, वह हिन्दू जाति के पुनरुत्थान का यज्ञ था। एक समय आयेगा, जब होली और दीपावली, विजयादशमी और रक्षा-बंधन की भाँति सारे भारतवर्ष में घर-घर उत्सव मनाया जायेगा। रक्षा-बंधन ब्राह्मणों का पर्व है, विजयादशमी क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का, होली शूद्रों का लेकिन 'हरिजन दिवस' समस्त हिन्दू जाति का पर्व होगा। यह वर्ष भेद को मिटाकर एकता के भावों को जगाने और पालने वाला होगा' (वही, पृ. ४५२)। प्रेमचंद का मानना था कि सभी धर्मों का मूल तत्त्व 'मनुष्य-मात्र की समता' है। परन्तु मनुष्य मात्र की समता के लिए केवल धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार ही काफी नहीं हैं, इसलिए आर्थिक समता भी आवश्यक है। वास्तव में आर्थिक आत्मनिर्भरता साधन है, जबकि धार्मिक और सामाजिक समता साध्य है। बिना आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त किए दलितों की सामाजिक मुक्ति संभव नहीं थी, इसीलिए प्रेमचंद इसी टिप्पणी में आगे लिखते हैं, 'हरिजनों की समस्या केवल मंदिर प्रवेश से हल होने वाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे, जो उन्हें उठने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी सी रियायत करनी चाहिए। हमारे जमींदारों के हाथ में उनकी दशा सुधारने के बड़-बड़े उपादान हैं। उन्हें घर बनाने के लिए काफी जमीन देकर, उनसे बेगार लेना बंद करके, उनसे सज्जनता और भलमानसी कर बरताव करके वे हरिजनों की बहुत कुछ कठिनाईयाँ दूर कर सकते हैं।' स्पष्टतः एक ओर जहाँ प्रेमचंद १९३२ में गांधी जी के मंदिर प्रवेश आंदोलन का समर्थन कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर उनका विचार था कि दलितों की असल समस्या आर्थिक है और उसे सुलझाये बिना अछूत समस्या का समाधान नहीं हो सकता। प्रेमचंद संसार के सारे अन्याय और अत्याचार की जड़ सम्पत्ति को ही मानते हैं। उन्होंने २७ नवम्बर, १९३३ के 'जागरण' में 'राष्ट्रीयता और

अन्तर्राष्ट्रीयता' शीर्षक टिप्पणी में लिखा, 'संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता।' (वही, पृ. ३३५) वास्तव में दलितों पर जितने अत्याचार हुए उसका प्रमुख कारण आर्थिक दुर्बलता ही है। दलित भूमिहीन हैं, खेत मजदूर हैं, उनका स्वयं का व्यवसाय नहीं है, उत्पादन का भी उनका अपना कोई साधन नहीं है। जब तक दलित खुद अपने पैरों पर खड़ा नहीं होगा, तब तक उसको सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। अतः उसकी अस्पृश्यता के साथ उसकी गरीबी भी समाप्त करना अनिवार्य है। प्रेमचंद दलित समस्या के केवल मूक दर्शक व चित्रकार नहीं है, बल्कि वे समस्या की जड़ बताकर उसके निवारण का मार्ग भी सुझाते हैं।

सन् १९३२-३३ में एक तरफ जहाँ प्रेमचंद गांधी जी के मंदिर-प्रवेश आंदोलन का अपने लेखन द्वारा जोरदार ढंग से समर्थन कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर गांधी जी ने भी अछूत उद्धार कार्य में तेजी लाने के लिए नये-नये कार्य करना आरंभ किया। घनश्यामदास बिड़ला ने गांधी जी की प्रेरणा से 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। गांधी जी ने ११ फरवरी, १९३३ को साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' का पहला अंक पूना से प्रकाशित किया। उन्होंने डॉ. अंबेडकर से पत्र के लिए लेखकीय सहयोग मांगा, लेकिन अंबेडकर ने मना कर दिया और कहा कि जाति-प्रथा के रहते अछूत-प्रथा के उन्मूलन की कल्पना नहीं की जा सकती। ठीक इसी समय, १९३३ में 'हंस' के एक अंक के मुखपृष्ठ पर प्रेमचंद ने डॉ. अंबेडकर का चित्र प्रकाशित किया तथा उनके कार्यों की प्रशंसा की। किसी पत्रिका के मुखपृष्ठ पर अंबेडकर का चित्र प्रकाशित करने की यह पहली घटना थी। प्रेमचंद अपने अंतिम समय में डॉ. अंबेडकर की विचारधारा के करीब आने लगे थे तथा अंबेडकर के समान दलितों के लिए ब्रिटिशों से अधिक हिन्दुओं को घातक मानने लगे थे। उन्हें भी लगने लगा था कि आजादी तो प्राप्त हो जायेगी पर दलितों की स्थिति नहीं सुधरेगी, इसीलिए उन्होंने लिखा, 'हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि हम सामाजिक जुए से भी, इस पाखण्डी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है' (वही, पृ. ४७५)। असेंबलियों में डॉ. अंबेडकर 'पृथक

निर्वाचन' चाहते थे, लेकिन महात्मा गांधी के अनशन के दबाव में डॉ. अंबेडकर ने 'सम्मिलित निर्वाचन' स्वीकार कर लिया था। परंतु बंबई कारपोरेशन के चुनाव में एक हरिजन श्री देवखरकर को एक सवर्ण हिन्दू ने बुरी तरह हरा दिया। उनकी जमानत भी जब्त हो गई। इस पर प्रेमचंद काफी दुःखी हुए। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि पृथक् निर्वाचन की बात सही थी, परंतु इस पर प्रेमचंद ने १० अप्रैल, १९३३ के 'जागरण' में 'श्री देवखरकर की हार' शीर्षक टिप्पणी में सवर्णों को चेतावनी देते हुए लिखा, 'अगर सजातीय हिन्दू इस तरह हरिजन उम्मीदवारों को हतोत्साहित करते रहेंगे तो आपस में वैमनस्य और असंतोष बढ़ेगा और पूना के समझौते का जो उद्देश्य था वह गायब हो जायेगा।' (वही, पृ. ४६१)

यह सत्य है कि प्रेमचंद दलितों के पक्ष में हमेशा लिखते रहें। उन्हें लगता था कि जब तक सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी सुविधाओं पर ध्यान नहीं दिया जायेगा, तब तक उनका उद्धार संभव नहीं है, इसीलिए जब कानपुर-म्युनिसिपैलिटी ने हरिजनों के मकान के लिए धन इकट्ठा किया तो १९ जून, १९३३ के 'जागरण' में 'कानपुर को बधाई' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा, 'कानपुर म्युनिसिपैलिटी ने हरिजनों के मकानों के लिए जितनी उदारता से लगभग डेढ़ लाख रुपये की व्यवस्था कर दी है, उस पर हम उनके चेयरमैन मि. ब्रजेन्द्र स्वरूप को बधाई देते हैं। हरिजनों के उद्धार का काम रुपये में पन्द्रह आने हमारी म्युनिसिपैलिटियों पर निर्भर है। अगर यह संस्थाएँ अपने मेहतरों और डोमों के लिए ऐसी सुविधाएँ पैदा कर दें, जिनसे वे आसानी से सफाई का काम कर सकें, अच्छे और साफ मकानों में रह सकें, अच्छा भोजन और वस्त्र पा सकें और बच्चों को मदरसों में भेज सकें, तो हरिजन-समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है।' (वही, पृ. ४६८) जब महात्मा गांधी हरिजन आंदोलन चला रहे थे, तो कुछ साम्प्रदायिक मुसलमान इसे राजनीतिक आंदोलन कहकर संदेह करते थे। डॉ. सर मुहम्मद इकबाल ने अपने किसी वक्तव्य में इस ओर भी संकेत किया था, तो इसके जवाब में महात्मा गांधी ने अपना एक वक्तव्य निकाला। इस पर प्रेमचंद ने १८ दिसम्बर, १९३३ के 'जागरण' में 'क्या हरिजन आंदोलन राजनैतिक है?' शीर्षक टिप्पणी में गांधी जी के वक्तव्य का समर्थन करते हुए उनके हवाले से लिखा 'सर मुहम्मद इकबाल को मालूम होना चाहिए कि अछूतपन को जड़ से उखाड़

फेंकना मेरे जीवन का उद्देश्य है और पचास वर्षों से लगातार मैं उसी उद्देश्य को पूरा करने में लगा हूँ... हरिजनों के संबंध में मैं जो कुछ भी करता हूँ, वह शुद्ध धार्मिक है। उसमें कोई भी राजनीतिक रहस्य नहीं है' (वही, पृ. ४७०)। ठीक इसी समय प्रेमचंद को भी दलितों के पक्ष में लिखने के कारण 'ब्राह्मण विरोधी' (पं. ज्योति प्रसाद 'निर्मल' द्वारा) और 'घृणा का प्रचारक' (ठाकुर श्रीनाथ सिंह द्वारा) कहकर हमला किया जा रहा था। इस पर प्रेमचंद ने दिसम्बर, १९३३ के 'हंस' में 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान' शीर्षक लम्बा संपादकीय लिखा। 'जीवन में घृणा का स्थान' उपशीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने जीवन में घृणा की आवश्यकता को बताते हुए लिखा, 'पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी। घृणा से शिथिल होने से ही हम बहुधा स्वयं उन्हीं बुराइयों में पड़ जाते हैं और स्वयं वैसा ही घृणित व्यवहार करने लगते हैं। जिसमें प्रचण्ड घृणा है, वह जान पर खेलकर भी उनसे अपनी रक्षा करेगा और तभी उनकी जड़ खोदकर फेंक देने में अपने प्राणों की बाजी लगा देगा। महात्मा गांधी इसीलिए अछूतपन को मिटाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं कि उन्हें अछूतपन से प्रचण्ड घृणा है' (वही, भाग ३, पृ. ५६-५७)।

प्रेमचंद पर विरोधियों द्वारा आक्रमण में कोई कमी नहीं आई तो ८ जनवरी, १९३४ के 'जागरण' में विरोधियों का जवाब देते हुए दलित प्रसंग पर अपना अंतिम महत्वपूर्ण लेख लिखा। इस लेख का शीर्षक था- 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?' तथा उपशीर्षक था- 'टके-पंथी पुजारी, पुरोहित और पंडे हिन्दू जाति के कलंक हैं।' इसमें प्रेमचंद पं. ज्योति प्रसाद 'निर्मल' के 'भारत' में छपे लेख का जवाब देते हुए लिखते हैं- 'निर्मल की शिकायत है कि हमने अपनी तीन-चौथाई कहानियों में ब्राह्मणों को काले रंगों में चित्रित करके अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है, जो हमारी रचनाओं पर अमिट कलंक है। हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़ सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है, जो एक विशाल जाँक की भाँति उसका खून चूस रहा है, और हमारी

राष्ट्रीयता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्य-भाव का दृढ़ होना' (वही, भाग २, पृ. ४७१)। इतना ही नहीं प्रेमचंद ने आगे लिखा, 'हम नहीं समझते आज भी कोई विचारवान् हिन्दू ऐसा है, जो इस टके पंथी दल को चिरायु देखना चाहता हो, सिवाय उन लोगों के जो स्वयं उस दल में हैं और चखौतियाँ कर रहे हैं। निर्मल खुद शायद उसी टके-पंथी समाज के चौधरी हैं, वरना उन्हें टकेपंथियों के प्रति वकालत करने की जरूरत क्यों होती?' प्रेमचंद अपने राष्ट्रवाद संबंधी चिन्तन में दलितों की स्थिति को लेकर काफी चिंतित थे। उनका विचार था कि किसानों, मजदूरों की भाँति दलितों की भी भागीदारी महत्वपूर्ण है। इसी लेख में वे आगे लिखते हैं 'हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उसमें तो जन्मगत वर्णों की गंध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों व किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण हों, या सभी हरिजन होंगे।' साथ ही प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए यह भी लिखा, 'हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखंड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में से सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवाभाव पाया है।' तत्कालीन समय में प्रेमचंद और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ये दो ऐसे महान लेखक थे, जिन्होंने जाति का बार-बार उल्लेख किया है, परंतु इनमें से एक भी लेखक स्वयं जातिवादी कभी नहीं रहा। ये केवल समाज के यथार्थ को सामने रखना चाहते थे। प्रेमचंद के साहित्य का लक्ष्य ही था- 'आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद'। इस लेख को समाप्त करते हुए प्रेमचंद ने एक बार फिर जोर देकर कहा '.... समाज और राष्ट्र की भलाई इसी में है कि जाति से यह भेदभाव, यह एकांगी प्रभुत्व, यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटायी जाय, क्योंकि हम पहले कह चुके हैं, राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्णव्यवस्था, ऊँच-नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है।' प्रेमचंद ने १४ मई, १९३४ के 'जागरण' में अछूत

संबंधी अंतिम टिप्पणी लिखी 'इस हिमाकत की भी कोई हद है?' इसमें उन्होंने हिन्दू समाज की धार्मिक कट्टरता को गिरी हुई स्थिति में दर्शाया है। उन्होंने लिखा, 'छूत-अछूत और जात-पात का भेद हिन्दू समाज में इतना बद्धमूल हो गया है कि शायद उसका सर्वनाश करके ही छोड़े। खबर है कि किसी स्थान में एक कुलीन हिन्दू स्त्री कुएँ पर पानी भरने गयी। संयोगवश कुएँ में गिर पड़ी। बहुत से लोग तुरंत कुएँ पर जमा हो गये और इस औरत को बाहर निकालने का उपाय सोचने लगे, मगर किसी में इतना साहस न था कि कुएँ में उतर जाता। वहाँ कई हरिजन भी जमा हो गये थे। वे कुएँ में जाकर उस स्त्री को निकाल लाने को तैयार हुए, लेकिन हरिजन कुएँ में कैसे जा सकता था। पानी अपवित्र हो जाता। नतीजा यह हुआ अभागिनी स्त्री कुएँ में मर गयी' (वही, पृ. ४७७) साथ उन्होंने यह प्रश्न खड़ा किया कि 'क्या छूत का भूत कभी हमारे सिर से न उतरेगा?' इसके बहुत पहले नवम्बर, १९३१ के 'हंस' में प्रेमचंद ने लिखा था, 'भारत में इस्लाम के फैलने का कारण, ऊँची जाति वाले हिन्दुओं की नीची जातियों पर अत्याचार था। बौद्धों ने ऊँच-नीच का, भेद मिटाकर नीचों के उद्धार का प्रयास किया और इसमें उन्हें अच्छी सफलता मिली। ...हिन्दू अछूत से हाथ नहीं मिला सकता, पर मुसलमानों के साथ मिलने-जुलने में उसे कोई बाधा नहीं होती। वहाँ कोई नहीं पूछता, कि अमुक पुरुष कैसा, किस जाति का मुसलमान हैं। वहाँ तो सभी मुसलमान हैं। इसलिए नीचों ने इस नये धर्म का बड़े हर्ष के साथ स्वागत किया, और गाँव के गाँव मुसलमान हो गये' (वही, पृ. ३७५)। स्पष्टतः प्रेमचंद निम्न वर्ग के लोगों के मुसलमान बनने तथा उनकी दुःखद स्थिति के लिए उच्च वर्ग के हिंदुओं को ही दोषी मानते हैं। प्रेमचंद ने कभी भी जाति व्यवस्था, छुआ-छूत जैसे सामाजिक कलंक का समर्थन नहीं किया, बल्कि उनका पूरा जीवन-संघर्ष हिन्दू जाति-व्यवस्था का निर्माण करने वाली ब्राह्मणवादी सोच और उसका पोषण करने वाले

सामंती शक्तियों के खिलाफ रहा है।

प्रेमचंद पहले सवर्ण लेखक थे, जिन्होंने अपने वैचारिक एवं रचनात्मक, दोनों लेखन में दलितों के दुःखों से द्रवित होकर उनकी आवाज को बुलंद किया। साथ ही वे दलित समस्या के मूक दर्शक व चित्रकार नहीं रहे, बल्कि वे समस्या की जड़ बताकर उसके निवारण का मार्ग भी सुझाते हैं। महात्मा गांधी और डॉ. अंबेडकर दोनों ही प्रेमचंद के समकालीन थे। परंतु प्रेमचंद दलितोद्धार के मामले में महात्मा गांधी के समर्थक थे तथा एक पत्रकार की हैसियत से गांधी जी के अछूतोद्धार आंदोलन से जुड़ी तमाम गतिविधियों के समर्थन में अपनी पत्रिकाओं में लगातार लिखते रहे। यद्यपि प्रेमचंद ने अंबेडकर के विचारों का कभी खुलकर विरोध नहीं किया बल्कि वे अपनी पत्रिका के मुखपृष्ठ पर उनका चित्र प्रकाशित कर उनके कार्यों की प्रशंसा की, तथापि प्रेमचंद ने जिन मुद्दों को अपने लेखन का विषय बनाया, वह अंबेडकर के निकट जरूर है। प्रेमचंद ने अपने जीवन-काल के अंतिम वर्ष (१९३६) में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष पद से कहा था कि जो वर्ग या व्यक्ति दलित, शोषित अथवा पीड़ित है, प्रगतिशील लेखक का कर्तव्य है कि वह उनका पक्ष प्रतिपादन करें। उन्होंने २५ सितम्बर, १९३४ में 'भारत' के संपादक के नाम से लिखे एक पत्र में लिखा था, 'मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूँ और मेरी जिन्दगी गरीबों और दलितों की वकालत करते गुजरी है। हिन्दी में 'जागरण' एक ऐसा पत्र था, जिसने घाटे की परवाह न करते हुए वीरता के साथ सोशलिज्म का प्रचार किया' (सं. अमृतराय एवं मदन गोपाल, प्रेमचंद: चिट्ठी-पत्री, भाग २, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६२, पृ २५६-५७)। प्रेमचंद के सम्पूर्ण रचना संसार में प्रबल दलित चेतना दिखाई देती है। उन्होंने दलित समाज की बदहाली और उनकी दुर्दशा का जैसा मार्मिक और जीवंत चित्रण किया है, वैसा उनके पहले के हिन्दी साहित्य में देखने को नहीं मिलता।

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
मो. 09415822643

मेरा एक दोस्त था

इंदिरा दांगी

वो इन अर्थों में महान है कि ईश्वर की तरह उसे कितना भी इस्तेमाल में लिया जा सकता है।

शहर के तमाम साहित्यकारों के लिए वर्षों से वो 'मित्र जैसा मित्र' रहा है। 'मित्र जैसा' इसलिए क्योंकि निर्मम दिली रोशनियों में उस निरीह को किसी ने अपना मित्र कभी भी, ...कभी भी नहीं कहा; और 'मित्र' इसलिए कह रहा हूँ शास्त्रानुसार दोस्ती के छः मानदण्डों (देना, लेना, खाना, खिलाना, मन के रहस्य सुनना और सुनाना) पर वो खरा सोना है, हर एक के लिये, हर एक बार। यहाँ मैं उस निरीह का वास्तविक नाम ले भी दूँ तो शायद मेरा कुछ खास न बिगड़े; पर वो थोड़ा-सा प्यार (सॉरी, थोड़ा-सा नहीं; प्यार थोड़ा-ज्यादा, नया-पुराना नहीं होता, प्यार प्यार होता है! या तो हम किसी से प्यार करते हैं या नहीं कर पाते! ...तो मैं अपना वाक्य सुधारूँ)

पर वो प्यार जो मैं लाख न चाहकर भी उससे करता ही हूँ, उसी लिहाज में उसका नाम है- भोला कुमार अवस्थी!

तो, भोला एक सरकारी महकमे में कर्मचारी है और महकमा सो भी साहित्य और साहित्यकारों की तरक्की वाला! ये दीगर सत्य है कि इस विभाग में तरक्की की पहली मोटी मलाई इसी के अधिकारी अपनी प्लेटों में उतार लेते हैं और दूसरी महीन परत (जो मलाई कम भ्रम ज्यादा होती है) ही उन साहित्यकारों के हिस्से आती है सो भी बड़ी घोषित मेहरबानियों के बाद, जिनके नाम पर ये महकमा इतनी बड़ी इमारत, इतने कर्मचारी और इतना फंड पाता है (और इसकी बड़ी सरलीकृत-सी वजह ये कि यहां के अधिकारी भी प्रचार-प्रसार महकमे वाले उन तमाम अधिकारियों की तरह कविता-कहानी जैसा कुछ कर लेते हैं जिनसे विज्ञापन पाना सब साहित्यिक पत्रिकाओं की व्यावसायिक मजबूरी है।) यहाँ आकर भी अधिकारी अगर साहित्यकारनुमा कुछ न हो पाया, अपने जीवनपत्रक में तमाम विदेश यात्रायें, बड़े से छोटे तक अवार्ड-रिवार्ड, अनुवाद-शिविर दर्ज न करा पाया तो लालफीता बिरादरी में वो चुटकुला बन जाता है। बहरहाल, लालफीता बिरादरी के गैर चुटकुला अधिकारियों की प्लेटों से जो छूट जाती हैं- वे ही योजनायें दुष्यंत की पंक्तियों की तरह असली साहित्यकारों के नाम दर्ज हो पाती हैं-

इस नदी की धार में ठंडी हवा आती तो है।

नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है।

और हरेक कमजोर हिन्दुस्तानी की तरह मैं भी ईश्वर, प्रतिभा और 'हर जगह कम-अ-कम दस प्रतिशत ईमानदार तो है ही' नुमा अवधारणाओं में यकीन रखता हूँ इसीलिए

महकमे का सालाना इश्तहार जब अखबारों में आया जिसमें सूबे के कई नई उम्र के कवि-कथा' नाटककारों की बिल्कुल पहली-पहल किताबों की मदद-अनुदान के लिए प्रविष्टियाँ आमंत्रित की गयीं तो मैं सबसे पहला कवि था जो अपनी सौ कविताओं का अप्रकाशित पुलिन्दा उठाये वहाँ पहुँचा था; और जिस पहले नौजवान कर्मचारी ने मेरी ओर मुस्कुराकर देखा था वो था-भोला कुमार अवस्थी। आवेदन जमा करने की प्रक्रिया में जब मेरा नाम पढ़ा- इन्द्रनील 'नील'; उसने कहा कि एक स्थानीय अखबार में मेरी एक अच्छी कविता उसने पढ़ी है जिसकी कटिंग भी उसने सम्हालकर रखी है और ये कि वो भी कवि है और मेरी कविताओं-सी कवितायें रचने के बारे में सोचता है। एक साहित्यकार को जीतने के लिए उसकी रचना की तारीफ से बढ़कर कुछ नहीं होता; घण्टे भर बाद हम इतने मित्र हो गये कि हमने विभाग के सामने वाले ठेले पर समोसों के साथ चाय पी थी और उसके बहुत ना-ना करने पर भी पैसे मैंने चुकाये थे।

और जैसा कि जरूरतमंद लोग बहुत अच्छी तरह दोस्ती कर लेते हैं; हम झट से पक्के मित्र हो गये। दुबले-लम्बे और श्यामल सूरत के भोला की आँखें इतनी सुन्दर थीं, लगता था कि बस अभी बोल पड़ेंगी। मुझे लगता है, उन सबकी आँखें बहुत सुन्दर हो जाती हैं जिनके भीतर का सौन्दर्य बाहर आकर आकार ग्रहण नहीं कर पाता। बंद फूल जैसी प्रतिभाओं की अछूती सुन्दरतायें जब कोई और मार्ग नहीं पाती तो आँखों की जगमगाती रौनक में बदल जाती हैं। भोला की आँखें भी ऐसी ही थीं- गहरी और लुभावनी बिल्कुल उसकी बातों की तरह।

और बातें तो जो वो करता था; इतने विद्वानों के इतने विचार उसे याद थे और अपनी बातों में सुक्तियों, शायरियों, लोकोन्मुखी बातों का ऐसा सुश्राव्य समौ बाँधता था कि सामने वाला डूब-डूब जाता। उसकी कोई भी बात-राय-विचार किसी-न-किसी नामचीन कवित्त से शुरू होती और खत्म भी नामचीन पर ही न हो तो वो भोला की बात नहीं! हमारी दूसरी ही भेंट में जब उसने मुक्तिबोध के हवाले से शुरू किया, 'जीने की कोशिश करो जमीन में गड़कर भी'....और ...बोर्खेज के उद्धरण से अपनी बात पूरी की, 'जब मैं लिखता हूँ तो शायद कोई उसका एक पाठक हो, यहाँ न हो, पृथ्वी के दूसरी छोर पर हो, यह भी सम्भव है कि वह अभी नहीं, भविष्य में हो। मेरा तो

मानना है कि लिख देना चाहिये।'

तभी मैंने जान लिया कि अपनी साहित्यिक तरक्की के लिए लिखने के अलावा लेखक को जो-जो करना पड़ता है सो-सो के लिए भोला जैसा मित्र तरकश में रामबाण-सी उपलब्धि साबित हो सकता है। उसके मन में भी एक खिंचाव तो था ही और जब परखने वाले से उसने 'अनुदान के लिए जुगत' जैसा कोई प्रश्न किया था और मैंने साफ कर दिया था कि न तो चूहे के चमड़े से नगाड़े मढ़े जा सकते हैं और न ही ये चूहा ये कर पायेगा; तब...हाँ तब...बिल्कुल उन पलों में अपने-अपने रक्षात्मक कवचों से निकल हम समान धरातल पर आ गए; वो क्लर्क की रैंकवाला अस्थायी कर्मचारी और मैं सरकारी शिक्षक की रैंक में अस्थायी पढ़ानेवाला। फिर दोनों कवि सो भी ताजा-ताजा।

और हम हर फुर्सत में मिलने लगे : कभी एकांत में एक-दूसरे से कवितायें सुनते-सुनाते-सुधरवाते, कभी किसी बड़े साहित्यकार के केबिन-ड्राइंगरूम-रचनापाठ में, तो कभी शहर की एकमात्र साहित्यिक दुकान में प्रतिष्ठित पत्रिकाओं को अपनी नामित कामनाओं के साथ-साथ पलटते हुए। इन्हीं सब के बीच मैंने अपने नये मित्र को अपनी मूल रुचियों से भिन्न पाया।....कविता के स्ट्रक्चर पर बात करने में उसका उतना जी नहीं लगता था जितना कवियों के व्यक्तिगत जीवनो की रोचक वेज-नानवेज बातों में, ...पत्रिकाओं की अच्छी रचनाओं को पढ़ने पर उसका ध्यान उतना नहीं होता था जितना उनके संपादकों को पत्र-मेल-फोन करने पर होता,...नामचीनों के कवित्त जितनी तन्मयता से वो सुनाता था, अपनी कविता सुनाने से उतना ही घबराता था,...उसकी कविता की आप यदि पंक्तिभर भी आलोचना कर दें तो वे मुरझाये फूल-सा मरा-मरा दिखने लगता और एक बार तो वो इतना चिढ़ा था कि जोश-जोश में कह गया कि हिन्दी में इतने अच्छे कवि हुए हैं जिन्होंने अच्छा-अच्छा लिखा है कि अब उसके लिखने के लिए कुछ खास बचा ही नहीं है।और भोला के लिये मुझे बहुत-बहुत दुख हुआ था जब मैं इस सच से वाकिफ हुआ कि उसकी रूह अपनी कविता से ज्यादा शिबरी साहित्यकारों की सोहबत में बसती है।

इन सोहबतों से जब मैं उसे देखता वो हमेशा वाले सरल भोला से नितांत अजनबी लगने लगता, उसकी

सब मुद्राएँ स्वयं को महत्त्वपूर्ण दर्शाने की होतीं और बातों के बताशे बनाने के हुनर में तो वो उस्ताद था ही। सब उससे मुस्कुरा-मुस्कुरा कर मिलते :

-क्योंकि भोला ने उनकी लगभग सब नई-पुरानी रचनाएँ पढ़ रखी हैं।

- क्योंकि भोला उनसे (हाँ, उनमें से हरेक से!) नियमित मिलने जाता है, फोन कॉल्स करता है और जरूरी तौर पर तारीफों के पुल भी बाँधता है।

- और क्योंकि भोला सब साहित्यिकारों के तमाम छोटे-बड़े व्यक्तिगत कामों के लिए अवैतनिक सेवक है जो हर काम के बाद निहाल हो कहता है, 'आप-से महान रचनाकार के काम आकर मेरा आज का दिन सार्थक हो गया।'।

और उसके कुछ जुमले तो इतने दोहरावों-तिहरावों में सुन चुका था कि सामने से आते साहित्यकार को देखकर ही में जान जाता कि अब भोला कुमार अवस्थी साहब क्या जरूर कहेंगे, मसलन :

हर बुजुर्ग नामचीन से वो कहता,

'सर, आपका वो लेख छपा था फलों अखबार में; वाह! क्या अद्भुत विचार हैं आपके! और आपकी वो वाली रचना! ...वो तो स्कूली बच्चों के कार्यक्रम में शामिल होनी ही चाहिये।'।

हर प्रौढ़ता पाते लेखक से बोलता,

'मेरा दावा है, पाँच साल बाद आप हिन्दुस्तान के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी लेखक होंगे।....और कितनी अच्छी बात है कि हम मित्र हैं!'

कोई गृहशोभा टाइप लेखिका मिल जाती तो रेन्ज बढ़ाने की नितान्त जरूरत को लेकर हेमिंग्वे का उद्धरण जरूर सुनाता,

'कहानियों के आइडियाज मेज पर बैठकर नहीं मिलते। लोगों के बीच जाकर मिलते हैं। लोगों के बीच जाकर मैं उनसे एकरस हो जाता हूँ। उनकी आशायें-निराशायें-अनुभूतियाँ मेरी अपनी हो जाती हैं और फिर मैं एक चित्रकार की तरह उन्हें कागज पर अंकित करने का प्रयास करता हूँ।'।

हर युवा कथाकारा से यही कहना होता,

'आप हिन्दी साहित्य की सबसे खूबसूरत लेखिका हैं!'

और प्रत्येक कवयित्री को निहाल लहजे में बताता,

'आप तो स्वयं एक कविता हैं!'

सुन्दर कवयित्री से याद आया, एक दफा एक सुवाप्प कविताकारा के प्यार में अपना भोला ऐसा पड़ गया था कि पूछिये मत! वैसे तो वो हर सुन्दर और लड़की-सी महिला साहित्यकार के प्यार में थोड़ा-थोड़ा पड़ ही जाता है पर तब मामला वाकई गंभीर हो गया था क्योंकि वो सुश्री लेखिका भी हमारे भोला को 'मित्र! मित्र!' कहते नहीं थकती थीं। कुछ दिनों हर आम-ओ-खास साहित्यकार को भोला से ईर्ष्या होने लगी थी और जब सब चर्चाओं में उससे इस बावत् साहित्यिक ढंग से सुन्दर-सुन्दर सवाल किए जाते; वो गौरान्वित-सा मुस्कुराता ऐसे ढब से 'ना' कहता जिसमें स्वीकृतियाँ ध्वनित होतीं। बहरहाल, बात बहुत दूर तक नहीं गई; चार-छह महीनों बाद ही, जब भोला अपने सब परिचित संपादकों से उस नवेली साहित्यकारा का परिचय करवा चुका था और राजधानी की दौड़-धूप-अथनक प्रयासों से उसकी सुन्दर तस्वीर और उद्दाम श्रृंगार कविताओं की पहली किताब छपवा चुका तो हमने...हाँ, हम सबने अपनी आँखों से उस सुन्दर लेखिका को असुन्दर होते देखा। प्रतिष्ठा-छवि-सद्चरित्र और भी न जाने किन-किन नैतिकताओं से भरमाती लड़की वो भोला की अन्तरंग सखी से पुनः अपरिचिता बन गई। ...और भोला। अपना भोला नीलकंठ बन सब सह गया। हालाँकि बहुत-बहुत बार मैंने उसकी आँखें सुर्ख देखी, मन मृत और चेहरा जलता हुआ; पर इसे उसका हृद भोलापन ही कहिये कि उद्दाम प्रेमगीतों वाली अपनी उस अन्तरंग सखी की प्रतिष्ठा के एवज में उसकी जुबान पर उफ़ तक नहीं आई; दर्द बस इतना छलका कि एक शाम वो मेरे कमरे पर आया, गले लगा और निःशब्द फूट-फूटकर रोता रहा।

मैंने कहा, रोओ मत; कविता लिखो!

पर उसने अपने लिये आँसू ही तय किये थे और इसीलिए उसकी आत्मिकता के एवज में हर एक ने हर एक बार उसे यही मोती उपहार दिये। मुझे उसके लिए दुख होता था क्योंकि वो मुझसे प्यार करता था इतनी ईमानदारी से कि सदा ही मुझे नीलू कहकर पुकारता था जो कि मेरे लिये उसके असीमित प्यार का संक्षिप्तीकरण था।

नीलू- एन.आई.एल.यू. -नील आई लव यू!

और इस तरफ जितनी दफा वो 'नीलू' कहता, उसका प्रेम अपनी पूरी लयात्मकता में ध्वनित होता और मेरे लिए वो सबकुछ करता था सिवाय मेरी इस सलाह को

स्वीकारने के कि उसे एक उस्ताद की जरूरत है जो कविता-दर-कविता उसके क्राफ्ट को तराशे। मैं जब अपने गुरु को सन्दर्भित करते हुए अपनी कविता के विकास पर कहता,

खुद से चलकर ये नहीं तर्जें-सुखन आया है।

पाँव दाबे हैं बुजुर्गों के तो ये फन आया है।

पर उसके पास मुझसे, और इससे भी बढ़कर खुद से कतराने को ही बातें-ही-बातें थीं; कभी टालने वाले लहजे में कहता, 'अरे, ये कविता तो बस यों ही बोरियत के पलों में लिख दी थी; कुछ खास काम नहीं किया इस पर...छोड़, ये बेकार है!'

तो कभी रिल्के की लम्बी तहरीर शब्दशः (हे भगवान!) सुनाने लग जाता,

'कविता मात्र आवेग नहीं....अनुभव है। एक अच्छी कविता लिखने के लिए तुम्हें बहुत से नगर और नागरिक और वस्तुयें देखनी-जाननी चाहिये। बहुत-से पशु और पक्षी....पक्षियों के उड़ने के ढब। नन्हें फूलों के किसी कोरे प्रात में खिलने की मुद्रा। अज्ञात प्रदेशों और अनजानी सड़कों को पलटकर देखने का स्वाद। औचक से मिलन। कब से प्रस्तावित बिछोह। बचपन के निपट अजाने दिनों के अनबूझे रहस्य। माता-पिता, जिन्हें आहत करना पड़ा था, क्योंकि उनके जुआये सुख उस घड़ी आत्मसात नहीं हो पाये थे। आमूल बदल देने वाली छुटपन की रुग्णतायें। खामोश कमरों में दुबके दिन। समुद्र की प्रात। समुद्र खुद। सब समुद्र। सितारों से होड़ लगाती यात्रा की गतिवान रातें।

नहीं, इतना भर नहीं। उद्दाम रातों की नेहभरी स्मृतियाँ....प्रसव में छटपटाती औरत की चीखें। पीला आलोक। निद्रा में उभरती सद्यःप्रसूता। मरणासन्न के सिरहाने ठिठके क्षण। मृतक के साथ खुली खिड़की वाले कमरे में गुजारी रात्रि और छिटका शोर।

नहीं, इन सब यादों में तिर जाना काफी नहीं। तुम्हें और भी कुछ चाहिये- इस स्मृति सम्पदा को भुला देने का बल। इनके लौटने को देखने का अनन्त धीरज। ...जानते हुये कि इस बार जब वे आयेंगी तो यादें नहीं होंगी। हमारे ही रक्त, भाव और मुद्रा में घुल चुकी अनाम धपधप होगी जो अचानक अन्ते शब्दों में फूटकर, किसी भी घड़ी बोल देना चाहेगी अपने-आप....।'

कभी जोश से भर उठता,

'जिसे हम प्रतिभा कहते हैं वह निन्यानवे प्रतिशत

परस्परेशन (पसीना) है।'

कभी टूट जाता,

'सौ कवियों में कोई एक ही होता है जो वाकई कवि होता है; तू कवि है नीलू, मैं होना चाहता हूँ।'

और जब बर्दाश्त-बर्दाश्त की हदें पार होने लगीं तो एक दिन मैं चीख पड़ा,

'यों उद्धरणों और कहावतों के पीछे क्यों छुपता है? मान ले कि तू डरता है! तू डरता है कि तेरे वे नामचीन तुझे खारिज कर देंगे! अरे, हज़ारों टाँकी सहकर ही महादेव हो पाते हैं! तुझे कला से प्यार है, कलाकारों से प्यार है तो कभी अपनी प्रतिभा से भी प्यार कर ना यार! दूसरे के विचार क्यों, अपने विचार बना....अपने विचार!'

आखिरशः मैंने उसके अनतराशे हीरे-से क्राफ्ट पर बात करना छोड़ दिया; और वो तो वैसे भी इस स्थिति से भरसक बचता ही रहता था। अब अपनी-अपनी फुर्सतों और पहले से कम हो चुकी मुलाकातों में जब भी हम किसी रचनापाठ, पुस्तक विमोचन या अलंकरण प्रोग्राम में मिलते (हमारे लिए जिनके आमंत्रण अमूमन अखबारों में छपी अग्रिम सूचना खबरे हुआ करतीं।) तो बात सिर्फ मेरी कविता पर होती। और अब अगर ईमानदारी पर उतर ही आया हूँ तो ये कन्फैस भी जरूर करना चाहता हूँ कि जब उसने मेरी तमाम नेक सलाहें नहीं स्वीकारीं तो मैं संघर्ष के उन दिनों के अपने सच्चे साथी-भाई-दोस्त (जिसके लिए मैं नीलू (!!) था) को आहत करने लगा! यहाँ मैंने उसे शायद उसकी स्वार्थी प्रेमिका से भी ज्यादा दुख पहुँचाया। मैं मैमन्त ऊँची आवाज में सुनाता कि मेरे नामचीन कवि गुरु ने मेरी ताजा कविता पर कहा है कि इसे तीन बार और लिखने की जरूरत है। ये अनतराशा हीरा है, इस पर मेहनत नहीं करोगे तो नष्ट हो जाओगे ...कहते-कहते मेरा चेहरा मेरे गुरु का नहीं, मेरा अपना हो जाता और मैं सीधे-सीधे तौर पर भोला को लांछित करने लगता; पर हाँ नीलकंठ! बीसियों वारों के बावजूद उसने स्वयं को लहुलुहान नहीं दर्शाया बल्कि किसी कम मेहनती छात्र के-से अपराधबोध से मेरी बातें सुनता रहता।

नीलू!नील आई लव यू!

बहरहाल, हम मित्र थे; तमाम कन्ट्रासों के बावजूद! पृथ्वी के दो धुव्रों-सी सोच वाले, अंधेरे-उजाले की तरह अलग-अलग मिजाजों के, चाँद-सूरज की तरह विपरीत तासीरों के; हम मित्र थे और सच्ची मित्रता कन्ट्रास में ही

सजती है। नीले आकाश में धूसर मेघ,दलदल का सुर्ख गुलाबी कमल, ...खुरदुरे वृक्ष से लिपटी खुशबू-खुशबू लता, सच्ची मित्रता कन्ट्रास में ही सजती है। तो हम कन्ट्रास में दोस्त थे। हम एक-दूसरे से किताबें ले-देकर पढ़ते थे क्योंकि नित-नित महँगी किताबें खरीदना न उसके बूते में था न मेरे आर्थिक काबू में। तो भी भोला के पास खरीदी (पर अनपढ़ी!) किताबें बहुत थीं। पैंट भले ही वह घिसी पहन लेता था, चप्पल कई-कई बार सिल चुकी होती लेकिन साहित्य की चर्चित कृतियाँ खरीदकर बैठक में सजाने की लत उसे अफीमचियों सरीखी थी लेकिन नशा फकत बैठक की अलमारियों भर तक असर करता था। वे किताबें जो मुझे अग्निसुन्दरी की तरह लुभाती थीं, भोला ने शायद ही उनमें से किसी एक को भी कवर-टू-कवर पढ़ा था। ...एक कलाकार कला के तिलस्म में भटकता हुआ धीमे-धीमे नष्ट हो रहा था;

क्यों ? ?

बहरहाल, मेरी शब्द साधना में अपने ही 'क्यों' बहुत थे, ...मेरे सर न सिर्फ कविता बल्कि मेरे क्राफ्ट को भी यों हथेली पर रख जाँचते कि रेत के कण बराबर भी कमजोरी जब तक नहीं दिखती रहती, वे पुनः पुनः लिख लाने को कहते और मैं लिखता रहा, ...लिखता रहा। एक कविता तो गयारह मर्तबा मैं उनके पास पुनः ... पुनः ... पुनरीक्षण के लिए ले गया। (यही कविता बाद में एक प्रमुख साहित्यिक पत्रिका में छपी जिसकी प्रशंसा में पाठकों के डेढ़ सौ फोन कॉल्स, नब्बे एसएमएस और पचपन ई-चिट्ठियाँ मिलीं!) शहर के साहित्यिक हलकों में जब मैंने अपरिचय से परिचय की ओर एक कदम बढ़ाया; भोला ने मेरी पहली ढंग की सफलता पर ट्रीट चाही थी और हमने महकमे के सामने वाले ठेले पर चाय-समोसे उड़ाये थे; पर न जाने क्यों, सबकुछ होते हुये भी कुछ था जिसकी रह-रहकर कमी खल रही थी। ...न जाने क्यों इस दफा समोसों में वो पहले-पहल-सा लुत्फ न था, ...चाय में वो पहली-सी मिठास नहीं थी। भोला मेरी तारीफ कर रहा था, 'गजब यार नील! क्या लिखा है तुमने! आकाश, ईश्वर और प्रेम का जैसा मानवीकरण तुम्हारी कविता में मिलता है; आहाहाहा! वाकई तुम महानता के पहले पायदान पर हो और कितनी अच्छी बात है कि हम मित्र हैं!'

और मेरे लाख मना करने पर भी जब पैसे उसने

चुकाये; बिल्कुल उन सघन पलों में, मैंने देखा कि अब बहुत दिनों तक हम मित्र नहीं रह पायेंगे! बुरा लगा और बहुत बुरा लगा। उस रात देर तक मैं उदास-उदास सोचता रहा :

- आज भोला के लिए ये दोस्त 'तू' से तुम हो गया!

- आज मैं नीलू नहीं नील हो गया!

-आज पैसे उसने चुकाये जबकि आज से पहले हम इतने अभिन्न मित्र रहे हैं कि एक दफा दो-चार साहित्यकारों को चाय का आमंत्रण दे चुकने के बाद जब उसने गहरी आँखों से मुझे देखा था, मैं जान गया था कि उसकी जेब में रुपये कम हैं और उसकी सौ औपचारिक मनाहियों के बावजूद उस रोज और उस रोज के बाद हर रोज जब हमने चाय-समोसे या पान आपस में बाँटा, पैसे मैं ही चुकाता रहा हूँ। खग ही जाने खग की भाषा; मैं क्या नहीं जानता था कि भोला बस में आता-जाता है। किराये के घर में रहता है; फिर उसकी किताबों और किताबकारों पर नाहक खर्च की जो अफीमची लत है; कई-कई दफा उसके सेलफोन में बैलेंस डलवाया मैंने; इन आश्लेष गहराईयों के बावजूद आज जब उसने जबरन पैसे चुकाये, मुझे याद आ गई उसकी एक पुरानी बात,

'मैं पैसे सिर्फ बड़े साहित्यकारों पर खर्च करता हूँ!'

मेरी आँखें भर आयी; अपनी सूक्ष्म इबारतों में जिन्दगी नई गतियों का खाका तय कर रही थी :

गति ! ...गति !गति !

मानव जीवन सिवाय गति के कुछ नहीं। कितने ही रिश्ते, मोह, वास्ते, जिन्दगी में आते हैं पर दूर और देर तक वे ही चल पाते हैं जिनकी गतियाँ हमारी गतियों से सम हो पाती हैं। तेज रफ्तारों वाले संग-साथ बढ़कर अलग राहों पर मुड़ जाते हैं और धीमे वेग के प्यार बहुत-बहुत पीछे, बचपने की तरह छूट जाते हैं; फिर कला तो पानी में तैरने सरीखा शिल्प है। कलाकार स्वयं को ही पीछे छोड़ता हुआ आगे बढ़ता है। ...अपना ही निषेध !स्वयं को ही नकारना ! ...क्या यही नकारात्मकता कलाकार की मूल जैविक ऊर्जा की ऊँचाई नहीं है ? जैविक ऊर्जा तो हम सब में समान ही होती है और इसे खर्चने वाले ईश्वर भी हम स्वयं ही होते हैं; सब होते हैं; हम दोनों भी थे पर एक माँ के दो जुदा बेटों की तरह हम दो कला साधकों ने अपनी-अपनी ऊर्जा को अलग-अलग अर्थों में रोशन किया। मैं एक दीया बना जो अपनी प्रेयसी कविता के प्यार में लम्बी-

लम्बी रातों जला और भोला ने स्वयं को दिन का कलादीप बना छोड़ा जहाँ सूर्य की सतरंगी रोशनी में दीपक, धूप में टिमटिमाता जुगनू भर होकर रह जाता है।

तो इस तरह हमारी केमेस्ट्री और कितने दिनों तक मैच करती? इन पिछले महीनों में जबकि यहाँ-वहाँ मैं लगातार छप रहा था; हमारी मित्रता अनन्य से अन्य हो जाने की प्रक्रिया में आ गई थी। अब वो मुझे 'तू' नहीं 'तुम' ही कहता, कभी-कभार उसके मुँह से 'आप' भी निकलने लगा। भोला का 'नीलू'— पलटकर छूटे रास्ते देखने की तरह— 'नील' हो गया और अब चाय के पैसे भी सदा भोला ही चुकाने लगा। पहले से ठहाके, वेज-नानवेज चुटकुले, धौल-धप्पे— अब लगने लगा था जैसे कभी हमारे बीच थे ही नहीं! इधर उसके स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन आ गया था; वो मुझे नामचीन कवि कथाकारों की सफलता के वे ही किस्से सुनाता जिनके अंत त्रास होते। कभी बिना संदर्भ के ही सुनाने लगता,

बुलन्दी देर तक किस शख्स के हिस्से में रहती है।

बहुत ऊँची इमारत हर वक्त खतरे में रहती है।

अप्रासंगिक तौर पर दार्शनिक हो उठता,

'पहाड़ पर चढ़ने में वाकई गर्व का मजा होता होगा; पर पहाड़ पर चढ़ने का अनुशासन भी होता है मेरे दोस्त! एक कदम फिसला और सब खत्म समझिये।'

बहरहाल, सफल होने की प्रक्रिया में आते ही असफल मित्र को छोड़ देने जैसे सरलीकृत कलंकों से भाग्य (अब आप कहेंगे, मैं और भाग्य की बातें?? सफलता किसे भाग्यवादी नहीं बना देती साहब!) ने मुझे बचा लिया। राजधानी की एक नामी साहित्यिक पत्रिका को नये उपसंपादक की जरूरत थी और अपने शहर के दो-चार नामचीन साहित्यकारों (जो मुझे भोला के दिये उपहार थे) से दो-चार फोन कॉल्स करवाने के बाद नये मुगालतों की नई नौकरी (सब साहित्यिक नौकरियों के अपने-अपने मुगालते होते हैं!) मुझे मिल ही गई; और जब मैं रवाना हुआ— याद नहीं क्या बहाना था— भोला विदा करने नहीं आया।

इधर उस सरकारी साहित्यिक महकमे (अब यकीन से कहूँगा, हर जगह कम-अ-कम दस प्रतिशत तो फिर भी बाकी है—ईमानदारी, हुनर, काबिलियत!) ने मेरा काव्य संग्रह छपवा दिया और मैं सितारों का नूर-ए-नजर होने की राह पर आ गया। आगे मेरी साहित्यिक यात्रा के चढ़ावों—उतारों, आशंसाओं—प्रशंसाओं और मुगालतों—मेहनतों का जो हाल है सो फिर कभी। ये भोला की कहानी है; आख्यापित तौर पर भोला के हक में ही छोड़ते हैं :

कुछेक साल बाद जब राजधानी के प्रमुख सरकारी साहित्यिक महकमे (यहाँ भी वही सब है भाई जो वहाँ है ...तरक्की की पहली मोटी-मोटी मलाई,अवार्ड-रिवार्ड,जीवन पत्रक,विदेश यात्राएँ ...और दस परसेन्ट ईश्वर, भाग्य, मेहनत!) द्वारा इस शहर में कविता पाठ आयोजित हुआ तो मैं भी प्रतिभागी रहा (बारह साल दिल्ली रहकर भाड़ नहीं झोंकता रहा हूँ!)

भोला दर्शकों-श्रोताओं में था। मैं जब मंच से उतरा, बहुतेरे मुझसे मिले, कुछ इस चक्कर में कि राजधानी से आया नामी (हा हा हा) कवि हो गया हूँ; तो कुछ इस जुगत में कि जिस संस्थान और पत्रिका से मैं जुड़ा हूँ, उससे जुड़ने वाले लेखकों का रुतबा अपने कस्बाती शहरों में ये हो जाता है कि 'यार! यार!' कहते रहे लोग भी बैठने को कुर्सी छोड़कर खड़े होने लगते हैं।

यों मुझे भीड़ ने घेर लिया। भोला सबसे पीछे था। जब रूबरू हुआ, मेरे दिल में एक बिसरा हुआ संबोधन गूँजा, नीलू! ...नील आई लव यू!

जी चाहा, आगे बढ़कर यार को गले गला लूँ! ...पर उसका बर्ताव इस कदर औपचारिक था, खुद को महत्वपूर्ण दिखाने की सब मुद्रायें अपनाता हुआ अपने नील जी को पुरतकल्लुफ भोला कुमार अवस्थी न जाने किस सन्दर्भ में चेखोव के हवाले से सुना रहा था,

'जीवन को वैसा चित्रित नहीं करना चाहिये जैसा वह है, वैसा भी नहीं, जैसा उसे होना चाहिये बल्कि ऐसा, जैसी हम उसकी कल्पना करते हैं।'

ओअ ओ! पर मैंने तो वैसा लिख दिया जैसा....!!

संपर्क: हनुमान मंदिर के पास, लोकबेदी एअरपोर्ट रोड

भोपाल (मध्य प्रदेश)

मो. 08109352499

माँ का बक्सा

डॉ. शुभा उपाध्याय

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

खुदीराम बोस कॉलेज

कोलकाता

माँ का बक्सा खुलना एक घटना होती।

लेकिन यह घटना कब घटती जल्दी से कोई समझ ही नहीं पाता। घर में कई लोग हैं। संयुक्त परिवार की परिपाटी पर फलता-फूलता बड़ा सा कुनबा है। बेटे हैं। बहुएँ हैं। और सबके दो-दो बच्चे। कुल मिलाकर लगभग बीस-बाइस प्राणी हैं। लेकिन कभी किसी ने नहीं देखा कि माँ अपना बक्सा कब खोलती हैं।

जहाँ लगभग बाइस जोड़ी आँखें सदैव सतर्क हों, वहाँ किसी चीज का लम्बे समय तक अगोचर रह जाना घटना नहीं तो और क्या है? इसीलिए माँ का बक्सा स्वयं में एक आश्चर्य और उसका खुलना एक युगांतकारी घटना से कम नहीं।

अतः जब वह खुला तो सचमुच एक घटना हुई।

ऐसा नहीं कि खुलेआम लोगों की उत्पुक्ता कभी प्रकट नहीं हुई। बेटे भले ही चुप रहे हों लेकिन बहुओं के तो प्राण जैसे उसी में अटके रहें। तांक-झांक और तमाम कोशिशों के बाद भी जब उस बक्से को खुला न देख पातीं तो कहे बिना भी न चुकतीं- ‘माँ जी इसमें क्या रखी हैं?’ , ‘क्या बाबूजी की कोई निशानी है?’ ‘आखिर हम ले थोड़े न लेंगे?’ , ‘एक बार दिखा क्यों नहीं देती?’ , ‘जरूर कुछ खास है’ वगैरह-वगैरह! लेकिन हर बार चौकी के नीचे बक्से को सरकाकर माँ एक ही बात कह देतीं- ‘सब कुछ तो तुम लोगों का ही है। आज नहीं तो कल। मैं कोई सर पर लादकर थोड़े ही ले जाऊँगी इसे।’ इतना कहते-कहते भी माँ सोच के गहरे कुएँ में डूब सी जातीं। कोई कहाँ कुछ ले के जाता है? तुम्हारे बाबू जीवन भर जोड़ते रहे, तिनका तिनका बिनते-बटोरते रहे, कहाँ कुछ साथ गया? दुनियाँ का यही दस्तूर है। यहाँ का सब यहीं रह जाता है। कुछ साथ नहीं जाता।

‘उफ! माँ जी, आप भी न, कहाँ का पँवारा ले के बैठ गई?’

‘हमने तो ऐसे ही कह दिया था।’

माँ को सोच की गहरी नीली भँवर में छोड़कर एक-एक कर चारों बहुएँ सरक लेतीं।

चौकी के नीचे छिपा बक्सा अपने मुँह पर पाव भर ताला लटकाये माँ की सतत उदास होती शांति को चुपचाप निहारता रहा।

क्या है इस बक्से में? माँ खुद भी तो कभी-कभी समझ नहीं पातीं। लेकिन न जाने क्यों जान से भी ज्यादा हिफाजत करने लगी हैं इसकी। जब बेटों की शादियाँ नहीं हुई थी तो घर में रखी चार बड़ी-बड़ी लोहे की अलमारियों पर उन्हीं का हक था।

हक हो भी क्यों ना?

बड़े चाव से बाबू ने बनवाया था चारों को। तभी मन में चुभी आशाकाओं की कील ने चिकोटा था- ‘चार आलमारी बनवा रहे हो, कल को घर में चार बहुएँ आयेंगी। एक-एक पर हक जताने

लगेगी। मैं तो फिर वहीं की वहीं रह जाऊँगी। लेकिन कभी खुले मुँह से कुछ कह न पायी। पता नहीं क्यों कुछ अच्छा-अच्छा सोचता ही नहीं है। जब भी विचार आते हैं तो बिच्छू के डंक की तरह दंश देते ही आते हैं। बाबू ठीक ही कहते हैं- 'तुम हमेशा ऐसी ही क्यों सोचती हो? बेटे तुम्हारे हैं, तो बहुएँ क्या परायी होंगी? और फिर तुम भी तो एक बहू बनकर ही आई थी।'

इसी तर्क के समक्ष आकर वह चुप भी हो जाती और कहीं न कहीं आश्वस्त भी। ठीक ही तो कह रहे हैं। जो जैसा करता है, वैसा ही भरता है। मैंने तो हमेशा अपने सास-ससुर को देवता समान ही समझा। कभी उनका दिल दुखाने की सोचा भी नहीं। हमेशा यही जतन करती रही कि- 'उन्हें कैसे प्रसन्न और खुश रखूँ।'

दिन-रात एक ही धुन रहती— घरहीं में मंदिर बनाई, तीरथ हम काहे के जाई... ?

एक बार बड़के को बाँस की टहनी से सुटक दिया था तो सास कितनी नाराज हुई थीं। उसी बाँस की सुटकनी से पहले मेरे ऊपर फिर अपने ऊपर कितने चोट लगा बैठी थीं। हर आघात के साथ सिसकती और चिल्ला-चिल्ला कर कहती जाती थीं- 'खबरदार! अब अगर कभी बच्चों पर हाथ उठाया तो! मेरा मरा मुँह ही देखोगी। फिर मारना चाहे काटना मैं देखने न आऊँगी।'

ससुर ने तो दाना-पानी छूना ही छोड़ दिया था कितनी चिरौरी-विनती के बाद जूठन छोड़ने को तैयार हुए थे। बड़के के बाबू भी उतनी ही इज्जत और सेवा करते थे अपने माँ-बाबू की। जब-तब कहते- 'देखो, मेरे माँ-बाबू को कोई तकलीफ न होनी चाहिए।'

कितना आदर से सब कुछ करती उस पर भी गिद्ध दृष्टि लगाये रखते कि कहीं कुछ गलत न कर बैठूँ! कितनी बार मन में आता कि कहूँ- 'आखिर मुझे भी चिंता है इनकी! मैं इनकी दुश्मन नहीं हूँ।' लेकिन यह सोचकर चुप्पी साध लेती कि जरूरत से ज्यादा चिंता-फिकिर इंसान को गाहे-बेगाहे चौंकाती ही रहती है।

'माँ जी चलिए खाना खा लीजिए? - छोटी बहू ने माँ से कहा और फिर बड़ीजनी की ओर ताककर फिस् से हँस दी। माँ ने उठते-उठते बक्से को एक बार सामने खींच लिया। अपने कमजोर हाथों से ताले को खींच-खींच कर देखा। आश्वस्त हुई तो हाथ की अंगुलियों को जमीन पर

तोड़ती हुई उठने की कोशिश करने लगीं।

... ..

थाली में दो रोटी और एक कटोरी दूध था।

माँ ने पूछा- 'बहू, तरकारी-वरकारी नहीं बनी है क्या?' 'बनी तो है माँ जी लेकिन...'

'नहीं... नहीं मुझे चाहिए नहीं, बस ऐसे ही पूछा था। दूध है ना!'

माँ, सब्जी जरा भी तीखी हो जाय तो नहीं खा पातीं। शुरू-शुरू में एक-दो बार कहा भी कि 'जिसको मिर्ची खाना हो, अलग से लेकर डाल लो' लेकिन उससे सब्जियों का जायका बिगड़ जाता। ऊपर से नून-मिर्चा चाहे जो डालो वह बात नहीं रहती जो भुने मसालो के साथ होती। विकल्प के तौर पर दूध-रोटी ही ठीक था। बहुओं को भी आसान सा रास्ता मिल गया। चाहे जो बनाओ, चटखारे ले ले कर खाओ बुढ़िया का क्या है? दो रोटी, और कटोरा भर दूध! तिस पर तुरा भी मारो कि- 'माँ जी तो बिना दूध के रोटी खा ही नहीं सकतीं।' 'हमने तो दूध दही में ही माँ जी को रखा है।' 'कोई और होता तो दूध आँजने को भी तरस जातीं!' - न जाने कितनी बार सुना है माँ ने यह सब। लेकिन सत्य तो सत्य है। वह भी दिखने वाला सत्य! ऐसे सत्य की तलहटी के नुकीले कंकर किसी को दिखायें भी तो कैसे?

... ..

कुछ दिन पहले माँ की तबीयत खराब हुई। सुबह से कई बार उल्टी और दस्त। उम्र के पतझड़ में झड़ी काया औचक बीमारी की चपेट से निढाल हो गई। चौकी पर लेटी माँ की आँखों में वर्षों पहले के दिन तैर गये। तब केवल बड़के की नौकरी हुई थी। अभी ब्याह भी न हुआ था। बाकी सब तो लिख-पढ़ ही रहे थे। ऐसे ही सुबह-सुबह जी मचलने लगा। आनन-फानन में रसोई में पहुँच गई। चूल्हें पर एक ओर चाय का छोटा पतीला और दूसरी ओर दूध का भगोना चढ़ा दिया, सोचा चाय पी लूँ, साथ में रात की रखी एक रोटी भी खा लूँ शायद थोड़ा आराम मिले। कभी-कभी पेट खाली रहने पर भी तो जी हलकान हो जाता है। तभी न जाने कहाँ से ख्याल आया कि नमक-चीनी पानी में थोड़ा नींबू निचोड़ कर पी लूँ- सोचकर ही मन को तरावट मिली थी। घर में नींबू नहीं था। नमक-चीनी ही पानी में घोलकर पी गई। और वहीं

हलहलाकर उल्टी शुरू हो गयी थी। बड़का के बाबू नहा रहे थे। लोटा-बाल्टी छोड़ वैसे ही भागे। उल्टी जारी थी। लगता था जैसे पेट में कोई आँधी आई हो। नाभि उखड़कर मुँह को आ रही थी।

लेकिन फिर भी उसमें कितनी हिम्मत थी। कहा- 'कोई बात नहीं है। जरा सी पित्त है निकल रहा है।'

बड़का के बाबू बोले- 'तुम भी किस मिट्टी की बनी हो। दिन भर कोल्हू की बैल की तरह दौड़ती रहती हो। अपनी सेहत का जरा भी ख्याल नहीं करती।'

'मुझे क्या हुआ है? कुछ भी तो नहीं! जरा सी उलटफेर हो गयी है कहीं, बस! आप तो नाहक परेशान हो रहे हैं। अभी ठीक हो जायेगा।'

'कभी सोचती हो इतनी बड़ी घर-गृहस्थी तुम्हारे बिना कैसे चलेगी? तुम्हें कुछ हो गया तो हमारा क्या होगा?' माँ के चेहरे पर लाली दौड़ गई। उस कठिन बेला में भी होंठ मुस्कराये बिना नहीं रह सके। पेट में उठा अंधड़ एक पल में शांत हो गया। जैसे उफनते दूध पर जल की फुहार पड़ी हो।

माँ और भी सोचने लगीं....।

लेकिन ऐसा कहाँ हुआ?

जब से ब्याह कर आई थीं, एक ही साध थी कि अर्थी उठे तो सुहागन के रूप में। कंधे पे चढ़ के जाना हो तो पति और बेटों के। कितनी बार बातचीत में कहा भी था कि - 'मेरी एक ही इच्छा है कि भरा-पूरा परिवार तुम्हें सौंपकर निश्चित होकर तुम्हारी गोदी में आँख मूँदूँ।'

लगता भी था कि भगवान उसकी सुन रहे हैं।

बड़का की नौकरी कब की लग गई थी। उसका ब्याह हुआ। बड़ी बहू के आते ही तीनों बेटे अपने-अपने काम पर लग गये। तो बड़ी बहू ने भी देवरानियों को लाने में देर न की। फिर भगवान की कृपा से सबके दो-दो बच्चे हो गये। मझली बहू का मुन्ना जरा देर से आया। तब तक छोटी की गोद भराई हो गई थी। ऐसे में मझली का मुरझाया चेहरा उसे चैन न लेने देता था, लेकिन दर-दर भटकने से पहले ही बात बन गई। उसके जी में जी आया। घर में खुशियाँ ही खुशियाँ!

भगवान ने बड़ी बरकत दी। और चाहे भी तो क्या? पति दिया तो ऐसा जो चारों पहर उस पर जान छिड़कता। बेटे-बहू भी आदर सत्कार करने लगे। पोते-पोतियों की

किलकारियों से आँगन हमेशा गमकता रहा।

उसका मन चाहता ईश्वर को धन्यवाद दे। शुक्रिया अदा करे भगवान का। लेकिन जब भी हाथ उठाती तो खुशियों से गद्गद मन अशीषने लगता। कभी-कभी तो सारी दुनियाँ को अशीषते-अशीषते वह भगवान को भी इसी तरह फलते-फूलते रहने का आशीष दे डालती।

धत् क्या करती है वह! भला कोई भगवान को आशीष देता है? सब कुछ तो उसी के मर्जी का फल है। लेकिन माँ के ममता का दूधिया आँचल भक्त और भगवान के फासलों पर भी एक समय सदय था। तभी वज्रपात हुआ। जिसने उसके हँसते-खेलते संसार को तहस-नहस कर दिया। कहाँ तो अब वह अक्सर सपने बुनने लगी थी। बड़का के बाबू उसी महीने की पच्चीस तारीख को रिटायर हुए थे। लेकिन मन तो कब का रिटायर हो चुका था। गजब का संयोग था। दोनों जन ही रिटायर थे।

माँ घर-गृहस्थी के कामों से और बाबू स्कूल से।

घर के बाहर की दालान में बैठकर वे घण्टों बतियाते।

बातचीत शुरू होते ही भगवान को आशीष देते। फिर भी पता नहीं क्यों मन हमेशा डरा-डरा रहता। कब किसी की काली नजर से बचाये रखने के लिए हनुमान मंदिर में हर मंगर को मीठी पूड़ी बनाकर चढ़ातीं। प्राप्य के छिन जाने की आशंका कभी मन भर आनंद न मनाने देती।

माँ तो पागल हैं।

हमेशा डरी रहती हैं। हमेशा बुरे ख्यालों से आक्रांत रहती हैं। हमेशा चौकन्नी रहती हैं जैसे अगले ही पल उसकी जमा पूँजी खोने वाली हो।

बेटे समझाते- 'माँ तू बड़ी भोली है ना! इसी से ऐसा सोचती है। आखिर कोई हमारा बुरा क्यों चाहेगा? हमने किसी का कुछ बिगाड़ा तो नहीं!'

'बेटा, समय अच्छा हो तो बुरे समय को याद करके बिताना चाहिए।' - माँ कहती।

लो माँ, यह भी कोई बात है। अच्छा समय अच्छे से बिताना चाहिए। कल क्या हो क्या पता!'

इतनी बेबाक टिप्पणी से ही तो माँ सिहर जातीं।

'कल क्या हो क्या पता! इसी से तो कहती हूँ, आज को कल से बिल्कुल अलगाकर न देखो।'

'माँ, तुम भी ना....'

'माँ जी से तो आनंद उत्सव देखा ही नहीं जाता। जब भी

कुछ उछाव-बघाव करना चाहो तो भगवान-भगवान जपने लगती हैं। -बड़ी बहू ने कहीं से आकर बात की डोर थाम ली।

‘अपने हिस्से की खुशियाँ तो सब जी लीं, अब हमारी बारी आई तो मन सिकोड़ लेती हैं।’ -छोटी ने बड़ी बहू की हाँ में हाँ मिलाई।

‘नहीं बेटा ऐसा नहीं है, तुम सबकी खुशी से ही तो मेरा जी जुड़ाता है। मैं तो बस...’ -माँ पूरी बात नहीं कह पायीं।

कहना भी नहीं चाहतीं।

मन के रेशे-रेशे को उधेड़ कर किसके सामने झारें। किसे समझाएँ और क्या समझाएँ!

माँ चुप हो जाती हैं।

माँ चुप ही रहती हैं।

माँ के चुप होते ही बहुँए अजब सी मुसकान से चमकने लगती हैं।

माँ ने बड़का के बाबू से कहा था- ‘आप तो जानते हो कि मैं क्यूँ डरती रहती हूँ...! मैं कोई ...!’

‘इसीलिए कहता हूँ बेकार की टोका-टोकी मत किया करो। बच्चे बड़े हैं, अपना भला-बुरा समझते हैं। अब तुम्हारे भरोसे नहीं हैं।’

सीने में जोर का एक धक्का लगा। तो क्या अब इन्हें माँ की जरूरत नहीं? वहीं माँ जिसके खिलाये कभी खाते, पहनाये कभी पहनते थे, वही बच्चे अब इतने बड़े हो गये हैं कि माँ की बातें उन्हें फिजूल की टोका-टोकी लगने लगी है। माँ ने सोचा। बड़का के बाबू ठीक ही करते हैं। अपने कोठरी में किताबों से उलझे रहते हैं।

कौन क्या करता है किसी से कोई मतलब नहीं। बात पूरी होने के पहले ही ‘हाँ...हाँ’ कर देते हैं।

माँ तो कभी-कभी सन्देह में पड़ जाती है कि उन्होंने कभी किसी की पूरी बात सुनी भी है या नहीं।

माँ ने एक बार इसी बात पर लड़ाई भी की थी।

‘आप तो बिन बात सुने ही ‘हाँ...हाँ’ करने लगते हैं।’-

माँ को लगता कि बाबू का इससे कोई मतलब नहीं कि बच्चों के लिए ‘क्या अच्छा है, क्या बुरा?’ बस, अपनी ही दुनिया में रमे रहते हैं। घर से जैसे दो रोटी के सिवा और कोई रिश्ता ही न हो।

‘है ना रिश्ता! रिश्ता कैसे नहीं है! तुम जो हो। तुमसे तो

जनमों-जनमों का रिश्ता है। और तुम भी तो इसी घर में ही हो ना?’

‘चलो जी, आपको भी ना, वक्त बेवक्त हँसी ठिठोली सूझती रहती है।’

माँ थोड़ी मुलायम पड़ गई।

बाबू ने माँ की हथेलियों को अपने हाथों में थामकर कहा- ‘तुमसे भी तो यही कहता हूँ कि अब इस चौके-चूल्हे के बंधन से मुक्त हो जाओ।’

‘कैसे मुक्त हो जाऊँ? जीते जी माया का फंदा छूटा है किसी का?’

‘तुम्हारा फंदा तो मैं हूँ ये माया क्या बला है! अब जितनी भी माया ममता बची है सब मेरे नाम कर दो।’

‘ऐसा नहीं होता। माँ के लिए उसके बच्चे कितने भी बड़े हो जायें हमेशा बच्चे ही रहते हैं।’

‘बड़का की माँ तुम भी ना, न जाने कब समझने को तैयार होओगी कि अब हम तुम....’। बाबू कहते-कहते रुक गये। माँ की ओर से मुँह घुमा लिया।

माँ ने देखा बाबू की आँखों में आँसू झिलमिला रहे थे। जिसे वे बरबस अपनी मुस्कुराहट में पीना चाह रहे थे।

माँ का मन चाह रहा था कि पूछें- ‘हम तुम क्या?’ पर न जाने क्यों पूछना ठीक नहीं समझा। कुछ देर यूँ ही बैठी रहीं।

बाबू ने माँ के हाथों को अपनी भीगी आँखों से छुआया। तभी दरवाजे पर फिस फिस कर दबी हँसी का एक निर्बाध सोता फूट पड़ा। कितने दिनों तक माँ नजरे चुराती रही थीं। जैसे कुछ अवैधानिक सा कर दिया हो। ठीक भी तो है। उमर का भी तो कुछ लिहाज होता है। लेकिन माँ करे भी तो क्या? ऐसे वैसे तो बाबू के पास बैठती भी नहीं। लेकिन आज संयोग ही वैसा हो गया कि कुछ करते न बना। सफाई दे भी तो किसे और कैसे?

बहुओं की आँखों में उभरी शरारत को भांपा है माँ ने। जी चाहा कि कुछ कहे लेकिन शब्द अजीब से लिजलिजे होकर गले में चिपके जा रहे थे। तब तो और भी जब बड़ी बहू ने माँ को सुनाते हुए छोटी से कहा- ‘आजकल बड़े-बुजुर्गों को भी रोमांस का चस्का लगा रहता है। नाती-पोते हो गये लेकिन मन अभी भी नहीं भरा।’

माँ को लगा जैसे किसी ने भरे बाजार में नंगा करके घड़ों पानी डाल दिया हो। बैठे-बैठे बुत की जड़ हो गयीं।

लज्जा और शर्म से धरती में धँसी जा रही थीं। उसके बाद कई दिनों तक माँ बाबू के सामने पड़ने से कतराती रही थीं।

अधिकांश समय पूजा की कोठरी में पड़ी आत्ममंथन करती रहतीं। कहाँ गलत हुआ? क्या गलत हुआ? हे भगवान रक्षा करो! हमारी...इनकी...सबकी। हे संकटमोचन मन को शांत करो! लज्जा की किस अंधेरी गुफा में डाल दिया तुमने। उबारो प्रभो! बचाओ!

बड़का के बाबू ने पिकी से पूछा था- 'पिकी, तुम्हारी दादी नहीं दिख रही, तबियत तो ठीक है ना बेटा!'

'हाँ...' पिकी ने सहजता से कहा।

'तो क्या मुझसे नाराज हैं?'

'मैं पूछकर बताऊँ दादाजी'

'जा बेटा, डाँट कर आ तू दादी को, कि दादा से क्यों नाराज हैं?'

'आपने मारा है दादी को?'

'नहीं तो'

'फिर क्या बात होगी दादा जी...' पिकी ने गाल पर हाथ रखकर सोचा।

'तू अपनी दादी को मना के ले आ, तो तुझे ढेर सारी टॉफी दूँगा'

'सच्ची!' पिकी का चेहरा ढेर सारी टॉफियों की कल्पना से खिल उठा।

पिकी चंचल हरिण-शावक की तरह झट से दादा की गोदी से कूद कर भागी।

आँगन में देखा, दादी नहीं दिखीं। ओसारे में भी दादी नहीं थीं। रसोई में गई तो माँ ने पूछा- 'क्या ढूँढ रही हो?'

'दादी को'

'दादी को?'

'हाँ'

'क्यों भला! आज दादी-पोती लुका-छिपी खेल रही हो क्या?'

'नहीं'

'तो?'

'वो दादी ना, दादा जी से नाराज हैं। अगर मैं मना लूँ तो दादा जी मुझे ढेर सारी टॉफियाँ देंगे।'

वो... तो ये माजरा है। अब दादा-दादी रूठने मनाने का भी खेल खेलने लगे। पिकी की माँ मुँह पर आँचल रख

फिस से हँस दी।

'माँ तुम जानती हो, दादी कहाँ है?'

'हाँ जानती तो हूँ'

'कहाँ? जल्दी बोलो ना माँ'

'तुम्हारी दादी पूजा घर में प्रायश्चित्त कर रही हैं।'

'क्या कर रही हैं?' पिकी की समझ में कुछ न आया।

'कुछ नहीं, जा तू मना उन्हें।'

...

पहली बार माँ को लगा था कि बच्चे बड़े हो जायें तो घर कैसे धीरे-धीरे अजनबी दीवारों में बदल जाता है। सब से सिमटता मन स्मृतियों की जुगाली करने लगता है। बड़का के बाबू ठीक ही कहते हैं कि "दूसरे तुम्हें सीमित करें उसके पहले हाथ-पैर सिकोड़ लेना बुद्धिमानी है।"

लेकिन माँ का मन नहीं मानता।

बड़का के बाबू की सारी सीखों से बगावत कर उठता है। किससे अलगाव खुद को? अपने बच्चों से! कभी नहीं! वह जीते जी ऐसा नहीं कर सकतीं।

कितने जतन से एक-एक ईंट को संवारा है। एक-एक कोने में उसकी यादें दुबकी पड़ी हैं! कैसे सबको खरोंच कर निकाल फेंके?

और तब माँ का एक ही निष्कर्ष होता।

बड़का के बाबू बड़े कठिन करेजी हैं।

रिटायरमेंट के कुछ महीनों पहले की ही बात थी....बड़का के बाबू मोटे-मोटे धागों से भविष्य की ख्याली-खाट बुन रहे थे। अपनी कोठरी में ही पिकी के दादी का खाट डलवा लेंगे। सुबह दस से शाम चार तक का समय अकेले काटना मुश्किल होगा। आदत जो हो गई है। वह रहेगी तो समय थोड़ा आसानी से हल होगा। फिर शाम को दोनों जनें बाहर निकल जाया करेंगे। इस बहाने थोड़ी सैर भी हो जाया करेगी और समय भी छू-मंतर होते रहेंगे। उसके बाद...उसके बाद...न जाने कितने मंसूबे बंध रहे थे।

माँ किसी पर भी तैयार न थीं।

घर में बहू-बेटियाँ है आखिर क्या सोचेंगी फिर पास-पड़ोस भी तो है! इनको क्या? कभी कुछ सोचा है! वे दिन भी कैसे मोटे-पतले बीत रहे थे!

और जब समय आया।

कहाँ कुछ कर पाये! सारे के सारे मनसूबे कच्चे ही धराशायी

हो गये। मात्र तीन दिन की बीमारी थी।

पेट में दर्द हुआ। मरोड़ ऐसी कि बड़के के बाबू जैसी भारी देह भी तड़प उठी। दर्द से बिलबिलाती काया को किसी तरह दांत मीचकर काबू में करते।

गरम पानी के साथ हींग, हरण की बुकनी, आँवले का बूरा सब व्यर्थ चला गया। दो दिन तो इसी देखा देखी में निकल गये। तीसरे दिन कै के साथ दस्त भी शुरू हो गयी तो डॉक्टर बुलाने के लिए पड़ोस के जीवन को भेजा। संयोग ऐसा कि बेटे-बहू सभी घर से बाहर। बहुएँ अपने-अपने मायके गई थीं। बड़का ऑफिस के काम से दूसरे शहर और तीनों दोस्तों के साथ घूमने। डॉक्टर के आने के पहले ही बड़का के बाबू की सांवली काया बिल्कुल नीली पड़ गई थी। दर्द की बिल्कुल शांत। शरीर बिल्कुल अचल स्थिर!

माँ ने अपनी फटी-फटी आँखों से देखा था। सब कुछ! तड़प, छटपटाहट और धीरे-धीरे शांत होती तस्वीर!

माँ का बक्सा बाबू की कोठरी में रखा रहता। बाबू की चौकी माँ की चौकी थी। कोठरी में बाबू के किताबों की कांच लगी लकड़ी की आलमारी, छोटी सी मेज, उस पर कोने पर रखी छोटी सी लम्बे मुँह वाली सुराही उस पर औंधाये ताँबे के गिलास के अलावा केवल चौकी थी।

और चौकी के नीचे जतन से रखा-बक्सा।

अक्सर जब माँ उदास होती तो कोठरी के किवाड़ को अन्दर से साँकल चढ़ाकर बंद कर लेतीं। और धीरे से चौकी के नीचे से बक्सा खिसकाकर थोड़ा बाहर करतीं। कोठरी में अकेली होने पर भी बक्सा कभी पूरा का पूरा चौकी के बाहर न निकालतीं।

कोठरी में एक ही खिड़की थी वह भी थोड़ी ऊँचाई पर। माँ जब भी बक्सा खोलती खिड़की से उचक-उचक कर झाँक लेतीं। पूरा इत्मीनान कर लेती कि बाहर से कोई देख तो नहीं रहा है!

बक्से का न जाने कौन सा रहस्य था जिसे किसी पर प्रकट करना नहीं चाहती थीं।

बाबू के जाने के बाद उनकी कोठरी, उनकी चौकी और यह बक्सा ही तो उनके जीने का सम्बल था। बड़ा सा घर। खुला खुला आँगन, लम्बे चौड़े ओसारे सब से जैसे नाता ही टूट गया था। वे और उनकी कोठरी।

कभी-कभी सोचतीं, बड़का के बाबू ठीक ही कहते थे- 'सब कुछ छूट जाता है! धीरे...धीरे...स्वयं बिना किसी प्रयास के।'

माँ की तबियत ठीक नहीं हैं।

माँ चौकी पर लेटी हैं।

शून्य दृष्टि से खुले किवाड़ के बाहर ताक रही हैं।

पिंकी हाथ में कुछ लिए अंदर आती है। शायद बिस्कुट...या कुछ और... लेकिन कुछ खाने जैसा ही....। एक झटक में मुँह के अंदर डाल वह दादी के पैताने बैठकर हौले-हौल उनका पैर दबाने लगी।

'दादी'

'हुँ'

'दादा जी को याद कर रही हैं?'

'तुमने कैसे जाना?'

माँ उठ कर बैठ गई।

'दादी'

'हुँ'

'दादा की कोई फोटो है?'

'देखोगी?'

'हाँ'

पिंकी और दादी चौकी से उतरकर नीचे बैठ गई। माँ ने बक्सा खींचा। कुछ देर उसे ऊपर से छूती रहीं...सहलाती रही रहीं, फिर आँचल में बंधी चाभी से ताला खोलने लगी। माँ कहती जा रही थीं- 'इसमें तेरे दादा की बहुत सारी चीजें हैं! धोती, है...रूमाल है...घड़ी है...कलम है...और...और...' पिंकी दादी को एकटक निहार रही थी। दादी कितनी व्यस्त हो गई थीं! इतनी व्यस्त कि बक्सा खुल रहा था लेकिन वे इस चिंता से बेखबर थीं कि दरवाजा खुला है और खिड़की भी।

इंशान का लज्ज

सुलेखा कुमारी
शोध-छात्रा,
हिन्दी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय

सुबह के इंतजार में बैठे रहना कैसा लगता है ?.... और जब कि वो सुबह आये ही ना !! रात के अंधेरों में नसे में उतरने लगते हैं और आदमी की नजर बेहिसाब अंधेरों में थकने लगती है।....सिर्फ गुनाह काफी नहीं होते कुछ सजाओं के लिए, कुछ सजाएँ सिर्फ काटने के लिए जिन्दगी भर के लिए मिल जाती हैं।

....सुनीता जब सुबह उठी तो दुनिया की खामोशी नई किरणों के साथ चहकने लगी थी... किरणें बिना नोटिस दिये सुनीता की खिड़की तोड़ के घुसे जा रहे थीं। काम पर जाना है, सोचते हुए सुनीता ने अपने दोनों बच्चों पर प्यार भरी नजर फेरी...ले दे के यही तो उसके अपने बच्चे हैं, इन्हीं की सलामती चाहती है। आँखों में छुपा सकती तो वही करती। सन्नाटे में भी तूफान की आशंका उसके नजरों को कपा गई। नहीं...नहीं...डरना नहीं है, मजबूत बनना है...बनना होगा। मन को समझाते हुए कुछ सोच रही है, 'मजबूत बनना चाहिए मुझे...शायद इसलिये तो अकेली हो गई। नियति जिसे मजबूत बनाना चाहती है, उसे सबसे पहले अकेला कर देती है।' अकेला इंसान अनजाने डर से लड़ता हुआ आखिरकार उसकी बराबरी का बनने का साहस जुटा ही लेता है, एकदम बेखौफ साहस। सुनीता वही जुटा रही थी। उसी साहस के साथ सामने की कॉलोनी के तीन घरों में काम करने को उठ खड़ी हुई। घर को जल्दी-जल्दी साफ कर, पानी भरा और बच्चों के लिए चूड़ा फुलाने लगी... माँ का हृदय पानी की ही तरह तरल हो गया। राजू तो बिना कुछ कहे खा लेगा लेकिन छोटी फिर रोयेगी आज पावरोटी के लिए। मालकिन से मांगने की कोशिश करेगी, मगर शब्द ही नहीं मिल पाते।

धीरे और एक-दूसरे से गुफ्तगू करते हुए कदमों के साथ सुनीता कॉलोनी में घुस रही थी। बगीचे के पास से जाते हुए आँखें न चाहकर भी फूलों पर खिल गई। बिरजू मरता था इन पर। नये-नये फूलों को लाकर यहाँ सजाता रहता, 'नये बच्चे आँगन में लगा दिये हैं, देखना कल से तुम्हें देखकर मुस्काया करेंगे।' बेवकूफ....एकदम बेवकूफ था बिरजू। बड़ा इंसान आदमी बनने चला था ! इंसानियत छोड़कर आदमी नहीं बना इसलिए आज अपने बच्चों को आँगन नसीब। आज की दुनिया में इंसान की इंसानियत ऐसी चीज है जो उससे सबसे पहले दगा करती है।

सुनीता ने घंटी बजाई और दरवाजा खुलते ही सुनीता समझ गई आज मालकिन के सिर में दर्द है, तो आज पैसा नहीं मिलने वाला। ऐसे भी उसे पता था कि एक तारीख को पैसे नहीं ही मिलेंगे, कभी सिर में दर्द होगा, कभी पैर में। खैर...वो इतना नहीं सोचती अब...। बिरजू के जाने के बाद बहुत सोचती थी क्या करें ? भाई के पास गई भी थी पर जल्दी ही समझ में आ गया कि अगर बच्चों का भविष्य बनाना है, तो अपने हाथों से खुद काम करना पड़ेगा।....

चार तारीख तक इंतजार करेगी, पैसे न मिले तो फिर पांच-छः को नहीं आयेगी और सात को जब आयेगी तब मालकिन उसकी तबीयत की खबर पूछकर खुद पैसे पकड़ा देगी। दो घरों में अभी काम बाकी है, सोचते हुए जल्दी-जल्दी हाथ चलाने लगी।

.....चाहे जो हो सुनीता अब पीछे मुड़कर नहीं देखती...फिर अंदर कहीं खूब गहरे घाव दबा है, जिससे दर्द रिस आता है, जिसके ऊपर चिंगारियों की राख डाल देती है।....पुलिस वाले जब बिरजू को पकड़ने आये तो कितना डर गई थी वो....घसीटते हुए बिरजू को ले जाते देख अन्दर से चिल्ला उठी थी। गुस्से में पता नहीं उसने क्या-क्या बका, वो क्रोध की आग में जल रही थी। बिरजू को नशीली चीजों के लेन-देन में पकड़ा गया था। बिरजू को बड़े मालिक लोग जो सामान पहुँचाने को देते, वह पहुँचा देता। कभी खोलकर देखा नहीं, पूछा नहीं। बड़े मालिकों का हुक्म ढोता और बाकी समय फूलों की बागवानी करता।

...अब कोई पूछे कि बिरजू को यह सामान देकर भेजने वाले घरों में क्यों सो रहे हैं? और बिरजू जेल में सजा काट रहा है? खाकी वर्दीवालों को भी अपनी वर्दी की सारी कसमें गरीब को देखकर ही याद आती हैं।

जब अपना काम खत्म कर सुनीता निकली तो मालकिन ने बिट्टू के पुराने जूते दे दिये, जिसे सुनीता ने कांपते हुए हाथों से ऐसे पकड़ा जैसे किसी के महीन सपनों की छाया छू रही हो...छूते टूट न जाए! जूते पुराने हो गये थे, चमक दब गई थी, फट चुके थे लेकिन चमक तो उस गरीब की आँखों में होती है, जिसने उसके सपने सजाये हों। घर को जाते वक्त सुनीता बार-बार जूतों पर नजर फेर लेती...हाथों में थामे रखने पर भी जिसके भार का अनुभव न कर पाती थी....शायद दूसरे हाथ में उसने किसी के सपने को थामा था जो जूतों से ज्यादा भारी था।

घर में घुसते ही उसने देखा कि राजू नहा-धोकर पूजा कर चुका है। नालायक एकदम बाप पर चला गया...कितना मनाती थी भगवान से उसकी कोख से इंसान न पैदा ले...लेकिन मालूम नहीं इस नस्ल के पौधे उसी के आँगन में क्यों उपजते हैं? बाप जैसा इंसान आदमी बनने चला है! मन ही मन भगवान से बगावत कर बैठी। छोटी अपनी पोलियोग्रस्त लोथ पैर को घसीटते हुए माँ के पास आ गयी और पावरोटी का पैकेट दिखाने लगी जो राजू ने खरीद कर उसे दिया था। सुनीता समझ गई नामुराद ने आज सड़क पर फिर किसी के जूते साफ

किये होंगे, बहन को पावरोटी देने के लिए। सरसरी निगाहें घर में राजू को ढूँढने लगी। राजू थोड़ी ही देर में बाहर से हाथ मुँह धोकर साफ-सुथरा माँ के सामने खड़ा हो गया।.....

राजू आठ साल का था, जिसका नाम स्कूल में लिखाया जा चुका था। लेकिन ड्रेस के नीचे का पैट फट जाने के कारण फिलहाल स्कूल नहीं जा पा रहा था। सुनीता उसी के पैट के लिए पैसे जुगाड़ रही थी। छोटी उससे तीन साल छोटी है। विकलांग होने के कारण दूसरे बच्चों के साथ नहीं खेल पाती, जिसके कारण उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया था। राजू उसकी पसंद का हमेशा ध्यान रखता और जरूरत पड़ने पर सड़क पर जूते साफ कर लेता, जो सुनीता को एकदम पसंद नहीं था।....राजू की आँखें अपनी भूल को छिपा न पाने के कारण झुक गईं। माँ ने हाथ से मालकिन के दिये हुए जूतों उसकी तरफ बढ़ा दिया। जूतें देखकर राजू की आँखें शीशे की तरह चमक उठी। जिसमें खुशी की परछाई साफ-साफ दिखने लगी। जब दो साल पहले मालिक इस जूते को बिट्टू के लिए लाए थे, तब से राजू की चाहत में यह जूता जुड़ चुका था। वह एक कपड़ा हाथों में लिए बिट्टू के आगे-पीछे डोलता रहता और जहां जूते पर धूल देखता उन्हें तुरंत पोंछ के नये-सा चमका देता। अपने सपने को दूसरे के पैरों में पलता देख भी वह उनकी चमक को फीका नहीं पड़ने देना चाहता था।... कांपती निगाहें जूते को अपनाना चाहती थीं लेकिन हाथ अपना हक नहीं दिखला रहे थे। माँ जूते वहीं रखकर छोटी को साथ लेकर चली गईं। राजू ने जूते को हल्के-हल्के छुआ, फिर उन्हें पैर से बिना लगाये अपने सामानों के ऊपर जाकर रख आया, अपने सपने को वह जूठा करना नहीं चाहता था।

शाम के वक्त सुनीता जल्द ही लौट आयी। आज रात में मालिक लोगों की पार्टी है, तो घरों में ज्यादा काम नहीं था। घर में छोटी खटिये पर बैठी, गुड्डे-गुड़िया की शादी करवा रही थी। माँ के दिल में फिर एक हूक उठी....लड़की बड़ी होकर सिर्फ खेल भर की चीज रह जायेगी। कहाँ तक बचाकर ले जायेगी इसे?....दरिदों से इसे कैसे बचायेगी? जिस डर को दबाये रखा था, फिर तो डर आँख दिखाने लगा। बिरजू का बाप एक अनाथालय

में नौकर था। उसे भी एक दिन पुलिस पकड़कर ले गई और वहीं जेल में उसने आखिरी सांसे लीं। बगल वाले काका बताते हैं कि बिरजू तब दस साल का था। उसके बाप को पुलिस ने बच्चा गायब करने के जुर्म में सजा दी थी। इंसान आदमी था, वह भी अपने मालिकों के बताये पते पर बच्चा पहुँचा आता, सोचता कि बच्चे को नये माँ-बाप मिल गये। ...बिरजू का बाप गया, बिरजू गया लेकिन अब तो किसी तरह राजू को न जाने देगी....भूली सी नजरें राजू को खोजने लगीं। राजू घर पर नहीं था। माँ और बहन की चौकीदारी में हाजिर रहता है? लेकिन आज राजू कहीं नहीं दिख रहा। सुनीता का दिल कांपने लगा, वह बेहोश-सी होने लगी। अनजाने भविष्य की डरावनी आहटें जिनके कानों में पड़ने लगी। मोहल्ले में खोजते हुए जब कॉलोनी के सामने उसके पैर रुके तब लोगों की भीड़ देखकर वह सहम चुकी थी। आज तो कॉलोनी वालों की पार्टी है और यहाँ खाने-पीने का बंदोबस्त है। राजू कहीं बहन के लिए कुछ जुगाड़ करने में न लगा हो? भीड़ को पार करती हुई जब वह बीचोंबीच खड़ी हुई, तो उसके सामने का मंजर उसके दिल को दहला देने वाला था। निगाहों में ममता उमड़ रही थी और होंठ बेजुबान हो रहे थे...कांपते हुए हाथों से घूमते हुए माथे

को पकड़ लिया और वहीं धम्म से बैठ गई। राजू सामने करतब दिखला रहा था, लोगों को। एक बेंत से लगातार अपनी पीठ पर चोट किये जा रहा था। ये राजू के सहनशक्ति की परीक्षा थी या समाज की कहा नहीं जा सकता!! लेकिन जब लोगों के दिलों में दर्द मिला हुआ सुख पनप रहा था। माँ की अन्तरात्मा पुकार रही थी- 'बेटा, तू कितना मूर्ख है रे! अपने दर्द को बांट रहा है। तेरा दर्द इनसे अनजाना है। ये लोग तेरा दर्द क्या समझेंगे? तेरा दर्द इन्हें सुख देने के अलावा और कुछ न देगा....तू इन्हें अपनी सहनशक्ति का परिचय दे रहा है, एक दिन जड़ों तक सोख लिया जायेगा।'

आपस में लोगों की बातें जारी हैं; 'इस कॉलोनी में सुरक्षा के तमाम इंतजाम मिलेंगे आपको शर्मा जी.... आपको कभी ऐसी सुविधाएँ कहीं और नहीं मिलेंगी। बेफ्रिक होकर खरीदिये एक फ्लैट। आज तक कोई घटना नहीं हुई भई यहाँ....।

सुनीता लगातार अपने से यही सवाल किये जा रही है 'इस नस्ल के पौधे उसी की आँगन की मिट्टी में क्यों उपजते हैं?'

और कहानी की लेखिका यह पूछती है कि 'सुरक्षा तो चाहिये मगर किसे और किससे?'

2, पी. बी. एम. रोड. चापदानी
पोस्ट-बैद्यबाटी, जिला-हुगली, पिन-712222
मो. 9749037418

टेपचू : ब्रूय व्यवस्था के खिलाफ एक चुनौती

डॉ. सुनीता साव
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग
सावित्री गर्ल्स कॉलेज
कोलकाता

उदय प्रकाश की कहानियाँ आज के तमाम कहानीकारों के लिए चुनौती हैं। यदि आज कोई रचनाकार खुद को कहानी विधा में शामिल करना चाहता है, तो उसे उदय प्रकाश को क्रॉस करना होगा। उदय प्रकाश को समकालीन भारतीय कहानी की इस सदी की धुरीण उपलब्धि कहा जा सकता है। जिस तरह मुक्तिबोध अपनी कविता पर कई-कई हफ्तों, महीनों तक काम किया करते थे, उसी प्रकार उदय प्रकाश भी अपनी कहानी की प्रयोगशाला में समय और समाज की अन्वीक्षा कई-कई महीनों करते रहते हैं। तब कहीं एक कहानी बाहर आती है। चाहे वह 'टेपचू' हो या 'तिरिछ', 'छप्पन तोले का करधन' हो या 'पॉल गोमरा का स्कूटर', और 'अंत में प्रार्थना हो' या 'वारेन हेस्टिंग्स का साँड़।'

हमारा आज का समय संचार, प्रचार, आविष्कार तथा व्यापार का समय है। मनुष्यता पर होने वाले प्रहार का समय है, जहाँ दुनिया के बड़े देशों का अहंकार दिन-ब-दिन खूँखार होता जा रहा है। इस समाज में दुराचार, व्याभिचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, शिष्टाचार, तिरस्कार और रिश्तेदार जैसे शब्द अपना परम्परागत अर्थ खो चुके हैं। यह समय प्यार का समय नहीं, बाजार का समय है और इस बाजार में पता नहीं कितने विचार आत्महत्या कर चुके हैं। यह समय गाँधीवाद और मार्क्सवाद का भी नहीं, आतंकवाद, सम्राज्यवाद, उपयोगितावाद तथा उपभोक्तावाद का है। ऐसे डरावने वक्त में उदय प्रकाश अपने समय के एक जरूरी कहानीकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। एक ऐसे कहानीकार जो कहानी में झूठ और सच का संश्लिष्ट गुम्फन कहानी की संवेदना के साथ करते हुए, दास्तानों और किस्सों की भाषा से गल्प का शिल्प निर्मित करते हैं। स्वयं उदय प्रकाश जी का कहना है- “अनुभूतियाँ ही तय करती हैं कि उसे गद्य में प्रकट होना है या कविता में। अनुभूतियाँ ही जेनर (शैली) तय करती हैं। जेनर द्वारा अनुभूतियाँ तय नहीं होतीं। जेनर तो स्वयं तयशुदा चीज है, वो क्या तय करेंगी?”

उदय प्रकाश की कहानी 'टेपचू' नवें दशक के शुरुआत में ही प्रकाशित हुई थी। यह पूर्ववर्ती कहानियों के आगे एक विभाजक रेखा खींचती है। 'टेपचू' ऊपर से देखने पर तो अति सामान्य-सी कहानी लगती है, लेकिन गहराई से देखा जाय तो वह अपने समय के जरूरी सवालियों से टकराने वाली बड़ी चिंताओं की कहानी है। यह सत्य है कि इस कहानी में एक जादुई यथार्थ है, क्योंकि कहानी के प्रारंभ में ही कहानीकार का कथन है- “यहाँ जो कुछ लिखा हुआ है, वह कहानी नहीं है। कभी-कभी सच्चाई कहानी से भी ज्यादा हैरतअंगेज होती है। टेपचू के बारे में सब कुछ जान लेने के बाद आपको भी ऐसा ही लगेगा।” हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारी लोक-कथाओं में जादुई यथार्थ का भरपूर प्रयोग हुआ है और फिर जादू तो कहानी का मौलिक गुण है। जिस कहानीकार

की कहानी आदि से अंत तक पाठक को बाँधने की क्षमता नहीं रखती, उसे भला कोई क्यों पढ़ेगा।

‘टेपचू’ शीर्षक कहानी मिथ्या को तथ्य बनाकर उपस्थित करने का एक कलात्मक उपकरण है। यह कहानी समय, समाज, इतिहास तथा जीवन की पुनर्रचना है। यह कहानी वास्तव में रचनाकार की तीसरी दुनिया है, जो मन की दुनिया और बाहरी दुनिया के संघर्ष से बनती है। उदय प्रकाश की यह कहानी मनुष्य के भाव-बोध को एक्सटेंड करते हुए पाठक को एक नये कथाबोध से इंट्रोड्यूस करवाती है। ‘टेपचू’ वर्तमान कहानी के शक्ल की एक सही तस्वीर प्रस्तुत करती है, जो समकालीन कथाकारों के लिए एक चुनौती है और उनकी कहानियों को झिंझोड़ कर रख देती है। कारण यही है कि इस कहानी में यथार्थ का तैयारशुदा और तयशुदा माल की तरह प्रयोग नहीं मिलता। इसीलिए इसमें बने-बनाये फार्मूलों को इस्तेमाल नहीं किया गया है। यह निम्नमध्यवर्गीय लोगों के अपने यथार्थ से टकराने की कहानी है, जिसके माध्यम से मौजूदा सोशल सैट-अप की अंतर्व्यवस्थाओं के अन्यायपूर्ण एवं अमानवीय सलूक का इजहार किया गया है।

‘टेपचू’ शीर्षक कहानी का प्रमुख पात्र टेपचू अवारा, फक्कड़ और रसिक मिजाजी अब्बी और मेहनती फिरोजा की इकलौती संतान है। अब्बी की मृत्यु के बाद जवान फिरोजा के लिए टेपचू ही मानों कवच है, जो उसे समाज की कुदृष्टियों का शिकार होने से बचाता रहता है। स्वयं लेखक का कथन है- *“फिरोजा को अकेला जानकर गाँव के कई खाते-पीते घरानों के छोकरों ने उसे पकड़ने की कोशिश की, लेकिन टेपचू हर वक्त अपनी माँ के पास कवच की तरह होता। दूसरी बात, वह इतना धिनौना था कि फिरोजा की जवानी पर गोबर की तरह लिथड़ा हुआ लगता था।”* टेपचू दरिद्रता और गरीबी के अग्निकुंड से जन्मा बालक था, जो हमारे सभ्य भारतीय समाज की घृणा, लांछन, कुत्सा, अपमान और तिस्कार का घूंट पी-पीकर पल रहा था, लेकिन इन बातों का उस पर कोई असर नहीं पड़ता, क्योंकि परिस्थितियों की मार ने उस नन्हें से बालक को यह सिखा दिया था कि उसके जैसे बालक की परवरिश हमारे सभ्य समाज में ऐसे ही होती है। फिर चाहे वह रात के घने अंधकार में मुखिया जी के भूतही बगीचे में घाम खायी बीमार माँ के लिए कच्ची अमिया तोड़ते हुए पकड़ा जाए या कमलगट्टे खाने की

इच्छा जाहिर करने पर भैंस हाँकने वाले परमेसुरा द्वारा चार-पाँच बार डण्डे की मार खाये या गालियाँ सुने या ‘ताड़ी’ जैसी ऊँची चीज, जिसे पीकर लोगों की आँखें आह्लाद से भर जाती हैं, चेहरे से सुख टपकने लगता, मुस्कान कानों तक चौड़ी हो जाती, मन्द-मन्द। आनन्द और मस्ती में डूबे लोग साल्हों-दादर गाते, ठहाके लगाते और एक-दूसरे के माँ-बहन की ऐसी-तैसी करते। कोई बुरा नहीं मानता था। लगता था जैसे लोग प्यार के अथाह समुंदर में एक साथ तैर रहे हों।’ ऐसी ताड़ी को चखने के लिए बिना किसी भय के ताड़ की ऊँचाई छूने की कोशिश में वजनदार पत्थर की तरह नीचे गिर जाए और बचने की कोई संभावना न रहते हुए भी बच जाएँ या काइयाँ किस्म के इंसान पण्डित भगवानदीन के यहाँ भैंसों की देखभाल करते-करते उन्हें जंगलों में ले जाकर छुट्टा छोड़ किसी पेड़ के नीचे रात की नींद पूरी कर लें और भूख लगने पर भैंस का ताजा दूध दुहकर चढ़ा लें, फिर पता चलने पर भगवानदीन द्वारा जूतों से पिटाई खाए, देर तक मुर्गा बनाया जाए, दीवाल पर उकड़ूँ बैठाया जाए, थप्पड़ खाए या काम से निकाल दिया जाए आदि दुर्घटनाएँ टेपचू के अति सामान्य सी बातें हो जाती हैं, जो उसके मन से स्वाभिमान और आत्मसम्मान की भावना को खत्म कर देती हैं और उसे जिद्दी तथा विद्रोही बना देती हैं और व्यवस्था के खिलाफ तैयार करती हैं। जैसा कि कहानीकार का कथन है- *“एक दिन टेपचू एक भरपूर आदमी बन गया। जवान। पसीने, मेहनत, भूख, अपमान, दुर्घटनाओं और मुसीबतों की विकट धार को चीरकर वह निकल आया था। कभी उसके चेहरे पर पस्त होने, टूटने या हार जाने का गम नहीं उभरा। उसकी भौंहों को देखकर एक चीज हमेशा अपनी मौजूदगी का एहसास कराती- गुस्सा या शायद घृणा की थरथराती हुई रोशन पर्त।”* यहीं से टेपचू का व्यक्तित्व एक नया मोड़ लेती है। अपमान और घृणा की घूंट ने उसके लहू के कतरे-कतरे में विद्रोह का संचार कर दिया है। वह अब अकेले अपने अधिकार के लिए किसी से भी लोहा ले सकता है, लेकिन किसी के समक्ष झुक नहीं सकता। अपने अपमान का बदला बखूबी ले सकता है। यही कारण है कि जब किशनपाल सिंह उसे गुंडों से बुरी तरह पिटावाता है तो उसी रात उसकी पुआल में आग लगाकर बैलाडिला भाग जाता है और कथाकार की सिफारिश से मजदूरी में भर्ती कर लिया जाता है।

विषम परिस्थितियाँ टेपचू को बेधड़क, निडर और मुँहफट आदमी बना देती हैं। उसे अब किसी का डर नहीं, किसी का परवाह नहीं। इसलिए वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—
“काका, मैंने अकेले लड़ाईयाँ लड़ी हैं। हर बार मैं पीटा हूँ, हर बार हारा हूँ। अब अकेले नहीं, सबके साथ मिलकर देखूँगा कि सालों में कितना जोर है।”

टेपचू जिस कारखाने का मजदूर है, वह कारखाना जापान की मदद से चल रहा था, क्योंकि जितना कच्चा लोहा कारखाने में तैयार किया जाता था, उसका बड़ा हिस्सा जापान खरीद लेता था और जब उसने लोहा खरीदना बंद कर दिया तो सरकारी आदेशानुसार कच्चे लोहे का उत्पादन कम कर दिया गया, जिसकी वजह से मजदूरों की छँटनी एक बड़ी तादाद में करने के लिए सरकारी फरमान जारी हुआ। परिणामस्वरूप मजदूर यूनियन ने विरोध में हड़ताल कर दिया। टेपचू भी इस विरोध का पक्षधर रहता है क्योंकि वह भूखमरी, बदहाली, और फटेहाली को भुगत चुका है, इसलिए वह भी नहीं चाहता कि मजदूरों के साथ कोई अन्याय हो। वह कहता है—
“दस हजार मजदूरों को भुखड़ बनाकर ढोरों की माफिक हाँक देना कोई हँसी-उट्टा नहीं है। छँटनी ऊपर की तरफ से होनी चाहिए। जो पाचास मजदूरों के बराबर पगार लेता हो, निकालो सबसे पहले उसे, छाँटें आजमानी साहब को पहले।” टेपचू के इस बदलाव के पीछे शोषक समाज के प्रति उसकी गहरी वितृष्णा, घृणा और क्रोध का विशाल समुन्द्र है, जो रह-रहकर उसके अन्दर पछाड़ें मारता रहता है और उसका विद्रोह फूटकर बाहर निकल आता है। पुलिस जब मजदूरों की यूनियन ऑफिस पर हमला करती है, उस समय भी टेपचू को कोई भय नहीं सताता और वह निडर होकर सिपाहियों को धकियाते हुए जोर से चीखते हुए कहता है—
“कागज-पत्र पर हाथ मत लगाना दरोगाजी, हमारी डूटी आज यूनियन की तकवानी में है। हम कहे दे रहे हैं, आगा-पीछा हम नहीं सोचते, पर तुम सोच लो, ठीक तरह से।” इस तरह वह अपने जाति-भाइयों के प्रति पूरी तरह ईमानदार भी है और अपने उत्तरदायित्व को बखूबी निभाता है। वह कानून और अपनी जिन्दगी की परवाह किये बिना ही अन्य मजदूरों के साथ सिपाहियों पर टूट पड़ता है और पुलिस वालों की बुरी गत बना डालता है। परिणामस्वरूप टेपचू को गिरफ्तार कर लिया जाता है, उसे खूब मारा-पीटा जाता है तथा जीप के

पीछे रस्सी से बाँधकर डेढ़ मील तक घसीटा जाता है। पुलिस के अत्याचार यहीं पर खत्म नहीं हो जाते। खून से नहाये हुए टेपचू की हालत ऐसी कर दी जाती है कि वह ठीक से खड़ा भी नहीं हो पाता और उसे भागने का आदेश दिया जाता है। जब वह भाग पाता तो उस पर फायरिंग की जाती है और रेत के बोरे की तरह जमीन पर गिर पड़ता है, फिर वह उठ नहीं पाता और हमेशा-हमेशा के लिए ठण्डा पड़ जाता है, तब उसकी लाश को जंगल के भीतर महुए की डाल से बाँधकर लटका दिया जाता है और घोषणा कर दी जाती है—
“मजदूरों के दो गुटों में हथियार बंद लड़ाई हुई। टेपचू उर्फ अल्ला बख्स को मारकर पेड़ से लटका दिया गया।” टेपचू के साथ भारतीय पुलिस का यह अत्याचार और ज्यादाती न केवल हमारे देश की भ्रष्ट कानून-व्यवस्था को बल्कि पुलिस के अमानवीय व्यवहार को भी दर्शाता है। यह हमारे देश की कानून व्यवस्था ही है, निःसहायों और निर्दोषों पर होने वाले जुल्म और अत्याचार को खत्म करने के लिए भले ही रात-दिन शपथ लेती हो, लेकिन वास्तव में यह पूँजीपति और सत्ताधारी वर्ग को ही सुरक्षा प्रदान करती है और उन्हें अपनी आड़ देकर नाना तरह के अत्याचार करने के लिए प्रोत्साहित करती रहती है। ऐसी कानूनी व्यवस्था के ठेकेदार हैं— दरोगा करीम बख्स जैसे लोग, जो मानवीयता का बाना ओढ़े अमानवीयता का पाशविक खेल खेलता है, जो टेपचू को गोली से दागकर भी शांत नहीं होता, बल्कि उसके और करीब जाकर उसके दोनों कंधों के पास बंदूक की नाल लगभग सटाकर दो-दो इंच नीचे तक दो गोलियों से और दागता है, टेपचू की ऐसी दुर्गति करता है कि
“जगह-जगह श्री नाट-श्री की गोलियाँ धँसी हुई थीं। पूरी लाश में एक सूत जगह नहीं थी, कि जहाँ चोट न हो।” इस प्रकार वह अमानवीयता की सीमा भी पार कर जाता है, तो दूसरी तरफ टेपचू है, जो मरकर भी मरना नहीं चाहता और मरता भी नहीं, बल्कि बार-बार मौत से लड़कर वापस आ जाता है, ऊँची सत्ता से टकराने के लिए, उसे अपने वजूद का एहसास दिलाने के लिए, कि उसके जैसे लोगों के
“जीवन की वास्तविकता किसी भी काल्पनिक साहित्यिक कहानी से ज्यादा हैरतअंगेज होती है और फिर ऐसी वास्तविकता जो किसी मजदूर के जीवन से जुड़ी हुई हो।”

‘टेपचू’ के माध्यम से वास्तव में उदय प्रकाश

ने व्यक्तिवादी रोमानी क्रांति की धारणा को ही व्यक्त किया है, जिसे कई लोग फंतासी से ढाँक-तोपकर 'हवा देने की कोशिश' मानते हैं, लेकिन सच पूछा जाए तो टेपचू मरा नहीं है और वह मरेगा भी नहीं, क्योंकि जिस दिन मजदूरवर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला टेपचू मर जाएगा, उस दिन सृष्टि का एक 'सच' मिट जायेगा, एक ऐसा सच जो बुनियाद के अंधियारे से खुद को ढँककर कंगूरों की ईंटें खड़ी करता है, जो मानवीयता का बीजारोपण करता है और सर्वहारा वर्ग में शोषण के खिलाफ चेतना की अग्नि सुलगाता है। इसलिए हर जनवादी आलोचक यह कहें कि उदय प्रकाश की कहानी 'टेपचू' मन में एक 'नकली आशा' पैदा करने वाली कहानी लगती है, तो यह बातें असंगत जान पड़ती हैं। 'टेपचू' हमारे समाज के कटु यथार्थ से टकराने वाली उदय प्रकाश की प्रारंभिक कहानियों में 'उम्मीद की किरण' तो अवश्य ही है, क्योंकि उम्मीद ही कटु-से-कटु यथार्थ से टकराने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है और उम्मीद ही हमें आशावादी बनाती है। फिर हम यह कैसे मान लें कि हमारा समाज पूरी तरह से संवेदनहीन है। यह यथार्थ नहीं है। समाज में ऐसे लोग भी हैं, जिनमें संवेदना बची है। कहानी का मर्म समाज में बढ़ रही संवेदनहीनता को प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि जो संवेदनाओं की अतल गहराई में पैठकर, उस गहराई को अपनी संवेदनाओं के थर्मामीटर से मापता है, वही बाहर निकलकर संवेदनहीनता के सीमित दायरे को समझ सकता है और उसे तोड़ सकने की हिम्मत रखता है। ऐसा करने वाला कोई संवेदनशील ही हो सकता है। उदय प्रकाश उन्हीं में से एक हैं। इसलिए उन्होंने उन आलोचकों के सम्बन्ध में एक दिलचस्प बात कही है, जिनके लिए कहानी का मर्म केवल समाज में बढ़ रही संवेदनहीनता को प्रस्तुत करना है, 'यह सच है कि किसी भी संवेदनशील रचनाकार को सर्वाधिक परेशान करने वाला तत्व आज की आलोचना ही है, क्योंकि वह किसी-न-किसी क्लब, गुट, सत्ता, केन्द्र का वफादार अल्सेशियन है। अंतोन चेखव ने आलोचना के बारे में कहा था, "जुते हुए घोड़े

के पुट्टे के घाव पर बार-बार बैठने वाली, पीड़ा पहुँचाने वाली मक्खी का नाम आलोचक है।" दुर्भाग्य से मैं भी चेखव का घोड़ा हूँ। इसी सन्दर्भ में कुमार कृष्ण उदय प्रकाश की कहानियों का महत्वाकलन करते हुए कहते हैं- "बहरहाल, कौन कहता है कि कहानियों के पेड़ नहीं होते। होते हैं। उदय ने भी अपनी कहानियों को उन पेड़ों पर से तोड़ा है, जैसे हम सेब, आम तोड़ते हैं। उदय की कहानियों के पेड़ न तो रूस के जंगलों में हैं, न चीन में, न जर्मनी के जंगलों में हैं, न स्पेन में। वे आज के डरावने समय के जंगल में उगे पड़े हैं, जहाँ से उदय अमरुद की तरह अनगिनत बीज वाली कहानियाँ तोड़ते हैं। इन कहानियों में उनकी कविताएँ भी निहित हैं जो रात में हारमोनियम की तरह बजती हैं और मनुष्य के भीतर रिक्तिका को भरती हैं। फिर भी कुछ लोग हैं तो 'चोखी' के मरने और 'तिरिछ' द्वारा काटे हुए पिता की ट्रेजडी पर जोर-जोर से हँसते हैं। वे शायद नहीं जानते 'दरियाई घोड़ा' जब मरता है, तो कितना छटपटाता है।"

अतः उदय प्रकाश की कहानी 'टेपचू' संवेदनहीन समाज के कीचड़ से जन्मा हुआ वह कमल है, जो भले किसी देवता पर चढ़े या न चढ़े, लेकिन हमारे समाज के सर्वहारा वर्ग के लोगों के गले का हार अवश्य बन सकता है, उन्हें समाज में एक सम्मानित दर्जा अवश्य दिला सकता है। इस दृष्टि से 'टेपचू' 'अति आशावाद' की ही अभिव्यक्ति करता है, क्योंकि 'टेपचू' मरकर भी कभी मरेगा नहीं। स्वयं कथाकार के शब्दों में— "आपको अब भी विश्वास न होता हो, तो जहाँ, जब, जिस वक्त, आप चाहें मैं आपको टेपचू से मिलवा सकता हूँ।" इस प्रकार इस कहानी के रचनात्मक आशय व अभिप्राय में जो गहनतम व गहरी भावात्मक मारकता है वो एक नयी जीवन-दृष्टि तथा यथार्थ दृष्टि देने वाली है। यह कहानी एक ओर यथार्थ के बदलते भयानक रूपों से टकराने तथा जीवन और मानवीय सभ्याचार पर पड़ने वाले इसके नये-नये दबावों को पकड़ने का प्रयास करती है तो दूसरी ओर भाव, शिल्प तथा रूप की नयी प्रणालियों को आविष्कृत भी करती है।

संपर्क : 09831121259

रागा-रंगा, रस-छंद के अथक पथिक : देवेन्द्र शर्मा 'इंद्र'

डॉ. पुनीत कुमार राय

असि. प्रोफेसर

शंकरगढ़ बलरामपुर (छ. ग.)

गीत मनुष्य के संवेदनशील मन की स्वतः स्फूर्त, एक भावपूर्ण एवं लयात्मक अभिव्यक्ति है। मनुष्य के राग और विषाद, छोह और विछोह आशा और असहायता, संशय और विश्वास की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में गीत प्राचीन काल से ही एक लोकप्रिय माध्यम रहा है। गीत के माध्यम से मनुष्य का सौन्दर्य बोधात्मक और मूल्यबोधात्मक अभिप्राय, बहुत सहज किंतु प्रभावी ढंग से प्रकट होता है। गीत की परिधि का विस्तार जन्म से लेकर मृत्यु तक, मनुष्य जीवन की हर स्थिति परिस्थिति तक है। मानव मन भावों के विभिन्न रंगों रूपों कोणों से लेकर भौतिक जगत के नाना संदर्भों-व्यापारों तक की सहज अभिव्यक्ति गीत की खासियत है। राधेश्याम बंधु का कहना है—
 “गीत अपने लयात्मक और रागात्मक सौन्दर्य के कारण एक शाश्वत विधा के रूप में आदिकाल से लोकप्रिय रहा है और मनुष्य की संवेदनात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम भी रहा है। इसके रूपाकार चाहे जो भी रहे हों, गीत ने मनुष्य के अहसासों और धड़कनों में अपनी उपस्थिति सदैव दर्ज कराई है। गीत ने मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों को सदैव आंदोलित एवं संप्रेरित किया है। इसीलिए गीत का अनुगूँज जीव के हर क्रिया कलाप में सदैव से महसूस की जाती रही है। तीज-त्योहार, मेले-ठेलों में गाया जाने वाला गीत यदि उल्लसित हृदय की अभिव्यक्ति था तो कठोर परिश्रम के समय श्रमिकों द्वारा और पसीना पोंछते हुए किसानों द्वारा गाया जाने वाला गीत उसके उत्साह तथा संघर्ष का प्रतीक था और उनको सक्रिय रखने के लिए ऊर्जा प्रदान करने वाला भी था। इसलिए गीत सदैव जनजीवन और जनमानस को यदि आह्लादित करने का एक सशक्त माध्यम रहा है तो आंदोलित करने वाला भी रहा है। शायद यही कारण है कि गीत की अपनी इसी लोकधर्मी चेतना के कारण उसकी व्याप्ति और प्रतीति हमारे जीवन में बराबर बनी हुई है।”

हिंदी काव्य-परंपरा की शुरुआत ही गीतों से होती है। हिंदी के आदि कवि शरहपा के यहाँ सर्वप्रथम गेय पद मिलते हैं। कबीर, विद्यापति, तुलसी, सूर, मीरा के गीतों ने जहाँ सहृदयों को आह्लादित किया वहीं भक्त जनों को आध्यात्मिक परितोष भी प्रदान किया। इनके गीतों में तरलता और कलात्मक उत्कृष्टता का अद्भुत संयोजन मिलता है। आधुनिक काल में छायावादी कवियों के यहाँ गीत सर्वप्रमुख विधा रहा है। बच्चन आदि प्रेम और मस्ती के कवियों के तरल-सरल गीतों ने लोकप्रियता के नए अध्याय लिखे। प्रयोगवादी, प्रगतिवादी और नयी कविता के कवियों ने भी नवीन भावबोध का संस्पर्श लिए हुए बेहद सफल और लोकप्रिय गीतों का प्रणयन किया। छठे दशक में नयी कविता की तर्ज पर नवगीत का जन्म होता है। नवगीत गीत के पारम्परिक सौन्दर्य प्रेम, विरह, अवसाद की भावभूमि से आगे बढ़कर अपने समय और समाज की हलचलों, दिनोंदिन जटिल होते मनुष्य जीवन परिवेश की विसंगतियों को भी अपने दायरे में लाता है। नवगीत में राग रस के संदर्भ ही नहीं, प्रतिरोध और प्रतिबद्धता का स्वर भी है, संवेदना-विवेक के क्षरण से उपजे टूटन-बिखराव, अराजकता, मूल्यहीनता, अलगाव से आहत कवि मन की चिंता-बेचैनी भी है, स्वतंत्रता-जनतंत्र को

अर्थहीन बना दी, सत्ता-व्यवस्था के छल-छद्म के प्रति क्षोभ भी है, और सबसे बढ़कर राग-विश्वास आपूरित एक सर्वसुखद समाज के निर्माण का स्वप्न भी है। भाव-विह्वलता गीतों की एक सामान्य विशेषता रही है, नवगीत में भाव संयम के साथ ही साथ बौद्धिकता का भी सन्निवेश है। अन्तर्वस्तु और अभिव्यक्ति दोनों दृष्टि से नवगीत की एक विशिष्ट पहचान है। शंभुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, उमाकांत मालवीय, रवींद्र भ्रमर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, रमेश रंजक इत्यादि नवगीत के प्रमुख उन्नायक रहे हैं। नवगीतकारों की उपस्थिति और सक्रियता को लगातार नजरअंदाज किए जाने के बावजूद नवगीत की धारा सतत् प्रवहमान रही है।

१ अप्रैल १९३४ को उ. प्र. के आगरा जनपद के नगला अकबरा गाँव में जन्में देवेन्द्र शर्मा 'इंद्र' हिन्दी के महत्वपूर्ण नवगीतकार हैं। पेशे से वह अध्यापक रहे हैं, दिल्ली विश्वविद्यालय के श्यामलाल कॉलेज से वह १९८८ में सेवा निवृत्त हुए। तब से वह स्वतंत्र लेखन में रमे हुए हैं। महानगरीय परिवेश में रहते हुए भी वह महानगरीय जीवन की जटिलता, कृत्रिमता, व्यवसायिकता से असम्पृक्त रहे। उनके व्यक्तित्व में गंवाई सहजता, आत्मीयता एवं उन्मुक्तता है। इंद्रजी हिंदी के बहुश्रुत विद्वान तो हैं ही साथ ही साथ संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, उर्दू, अंग्रेजी के ज्ञाता भी हैं। उनमें उच्च कोटि की भावुकता के साथ काव्य-मर्म के उद्घाटन, काव्यार्थ के अन्वेषण-विवेचन की असाधारण क्षमता भी है। उनके नवगीत संग्रह की भूमिकाएँ इसका प्रमाण हैं। उन्होंने गीतों का प्रणयन ही नहीं किया, अपितु संग्रहों की भूमिकाओं में गीत के स्वरूप-संवेदना, हिन्दी काव्य-परंपरा में गीत का स्थान, नवगीत का उद्भव विकास, उपलब्धि और संभावना पर भी विद्वतापूर्वक विचार किया है। हिंदी नवगीत की धारा को वह अपनी रचनाओं के माध्यम से जहाँ गति और विस्तार देते हैं, वहीं नवगीत की सैद्धांतिकी भी गढ़ते हैं, नवगीत के महत्व-प्रतिष्ठा की वैचारिक लड़ाई लड़ते हैं, नवगीत को लेकर हिंदी आलोचना में व्याप्त ऊहापोह, पूर्वाग्रह, किंतु-परंतु, संशय का रचनात्मक उत्तर भी देते हैं। इस प्रकार इंद्र जी सर्जनात्मक रूप से दो मोर्चों पर सक्रिय रहते हैं। और खास बात यह है कि सब कुछ बिना किसी हो हल्ला, बयानबाजी, फतवेबाजी खेमेबाजी के बहुत शांत, संयत ढंग से चलता है। इस दृष्टि से हिन्दी

नवगीत में उनका स्थान और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। वह जोड़-तोड़ करने वाले, पुरस्कार-प्रतिष्ठा लोलुप अवसरवादी रचनाकार नहीं हैं, सच्चे अर्थों में शब्द-स्वर के साधक हैं, निरंतर सृजन-मनन में तल्लीन।

इंद्र जी के अब तक १३ नवगीत संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'पथरीले शोर में', 'पंखकटी मेहरावे', 'कुहरे की प्रत्यंचा', 'चुप्पियों की पैजना', 'दिन पाटिलपुत्र हुए', 'आँखों में रेत-प्यास', 'पहनी है चूड़ियाँ नदी ने', 'अनंतिमा', 'घाटी में उतरेगा कौन', 'हम शहर में लापता है', 'गंधमादन के अहेरी', 'एक दीपक देहरी पर', 'मैं शिखर पर हूँ।' विभिन्न वादों-आंदोलनों के बहाव और विमर्शों की सरगर्मी से स्वयं को पृथक रखते हुए उन्हें जो रुचिकर लगा, वही लिखा। वह ओढ़ी हुई छद्म, कृत्रिम अनुभूतियों, आयातित विचार सरणियों का निरूपण नहीं करते, उनके यहाँ सहज स्वाभाविक और स्वतः स्फूर्त अनुभूतियाँ हैं। राग-लालित्य से परिपूर्ण, मूल्यों से संवर्धित संवेदना ही उनके नवगीतों की जमीन है। टूटन, बिखराव, अलगाव, अविश्वास, अनास्था, विभ्रम, विद्रूपता से भरे आज के युग में वह उदात्त भावों, आकांक्षाओं, स्वप्नों को सिरजते हुए जीवन के सहज रस, छंद, लय को संरक्षित करने का रचनात्मक उद्यम करते हैं। युगीन विसंगतियों से जन्मी पीड़ा चिन्ता-आक्रोश उनके यहाँ भी है, किंतु यह उनका मूल स्वर नहीं है। यथार्थ की भयावहता उनकी दृष्टि से ओझल नहीं है, किंतु जीवन-जगत की मोहकता उनके चिंतन-सृजन के केन्द्र में है, लुप्त हो रहे मूल्यों, विश्वासों, संबंधों सहजताओं का वह सतत् अन्वेषण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। मूलतः वह रोमांटिक भाव-बोध के यथार्थवादी गीतकार हैं। गाँव, ग्राम्य की विविध छवियों, स्मृतियों, अनुभूतियों को उनके नवगीतों की असली जमीन मानते हुए महेन्द्र कुमार मिश्र लिखते हैं-

"गाँव के रूप-रस-गंध-स्पर्श, सहज मानवीयता, एक निश्छल भावुकता, एक सीधे-सादे आदमी की व्यापक समझ, अदम्य आशावाद, किंतु सबके बीच विषाद का नीला तंतु जो अविभाज्य रूप से उस व्यक्ति की मानसिकता में गुँथा रहता है, जो अपने परिवेश के उत्तरोत्तर बढ़ती त्रासदी का नायक है। यही देवेन्द्र के काव्य का नेपथ्य है।"²

महानगर में रहते हुए उनके मन-मस्तिष्क में गाँव की स्मृतियाँ बराबर बनी रहती हैं। बार-बार उनका

मन गाँव के प्रकृति-परिवेश, आत्मीयता की सघन छाँव,
अभाव के बावजूद सहज जीवनधर्मिता की ओर लपकता
है। 'पगडण्डी और सड़कें कविता में वह लिखते हैं-

'पगडण्डी के दोनों ओर नीम, शीशम की
घनी छाँह की झीलों में यह मन डूबा है
यह बूढ़ी पगडण्डी हमको

बड़े प्यार से
देती है परिचय की सहज वत्सलों खुशबू
किसी एक ही पगडण्डी के तट पर
कच्ची भीतों

छतों
छान खपरैलों वाला
मेरा छोटा गाँव बसा है
जिसे छोड़ बरसों

दूर चला आया एकाकी, इन सड़कों पर
रोटी रोटी की तलाश में
मेरे नंगे पांवों की वे नहीं छापें
अभी तलक अंकित हैं उसी भूरी रेती पर

जिसे समय की
आँधी नहीं उड़ा पाई है।'

कहना न होगा कि इंद्र जी के मन में गाँव के
प्रति एक गहरा मोह है। जीवन की आपाधापी व्यस्तताओं
के बावजूद उनका गंवई मन-मिजाज कलुषित नहीं होने
पाया है। गाँव के घर-आँगन, रहन-सहन का यह बिम्ब
कितना आत्मीय और विश्वसनीय है-

वह बड़की बूआ के ब्याह पर बनी बाखर
अगवारे का बरगद, पिछवारे का पीपर
दो नीले मोर-पंख ड्योढ़ी में लगे हुए
झांझ, मंजीरे, ढोलक खूँटी पर टंगे हुए
आँगन में रोपा वह बिरवा तुलसी जी का
पूजा की थाली में जलता दीवा घी का
दादी माँ का चरखा, पाग-छड़ी दादा की
काकी की चाकी, कुर्ता-टोपी काका की
'शालिहोत्र', 'शीघ्रबोध', 'रामायण का गुटका'
आले में धरे हुए पोधी, पट्टी, बुदका
सीझती बरोसी में धुँधआती कण्डियाँ
चौखट पर लहराती पत्नी की झण्डियाँ।'

प्रकृति के विभिन्न रंग-रूप, छवियाँ, व्यापार
उनके गीतों में खूब आए हैं। खेत-खलिहान, पेड़-पौधे,

तितलियाँ-पक्षियों, जुगनू, बाग, पोखर, वन, पर्वत, बादल,
आकाश, सूर्य, चंद्रमा, दिवस, रात्रि, झंझा-तूफान, वर्षा,
बाढ़, सूखा, प्रभात, दोपहरी, संध्या, ऋतुएँ इत्यादि का
चित्रण उन्होंने पूरे मनोयोग से गहरी रागात्मकता के साथ
किया है। रोजाना दिखने वाले प्रकृति के दृश्यों-व्यापारों
को उन्होंने अपनी कल्पना शक्ति द्वारा बिल्कुल नवीन
छवि प्रदान किया है। प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण भी है और
कहीं प्रकृति मानवीय भावों-अनुभूतियों स्थितियों के
अभिव्यक्ति का माध्यम भी बनी है। उनके प्रकृति-चित्रों
में सहजता और आत्मीयता विद्यमान है। प्रकृति कोमल और
कठोर दोनों रूप में आई है। प्रकृति के सौन्दर्य के उद्घाटन,
उसके मानवीकरण में जहाँ वह छायावादी कवियों का स्मरण
कराते हैं, वहीं केदारनाथ अग्रवाल के प्रकृति चित्रण जैसी
सादगी सरसता और आत्मीयता भी खूब है। प्रभात और धूप
का यह बिम्ब कितना मोहक और मौलिक है-

मेघों का घूँघट पट
सरकाती तम की लट
नभ पथ से उतर रही किरनों की किन्नरियाँ
आँगन में खिली धूप
बिखरा ज्यों जात रूप
सिहर उठी ऊष्मा से लजवंती वल्लरियाँ।'

इसी तरह वह बसंत की मादकता का वर्णन
करते हैं- सूरज की सतरंगी किरणें, गुनगुनी धूप, पवन के
अल्हड़ झोंके, सुरभित परिवेश- लगता है समूची प्रकृति
ही राग रंग में सराबोर हो उठती है-

'सूरज ने
कलियों परमारी
सात रंग वाली पिचकारी
दखिन पवन के मादक झोंके
होले से नींद में मसल गये
फिर क्वारी कदली की देह
उमंगी कचनारों की कंचुकी
लिख गई पलाशों की बाँह पर
तोकदार गुनगुना स्नेह
साँस-साँस
गेंदे की महकी
बेला की आँख में खुमारी'

मनुष्य जीवन की विविध स्थितियाँ एवं
अनुभूतियाँ भी उनके प्रकृति-चित्रों में संश्लिष्ट होकर

आयी हैं। ठिठुरन भरी सर्द रातों की तीक्ष्णता और निम्न वर्ग के अभाव ग्रस्त जीवन की विवशता का यह चित्रण बेहद मर्मस्पर्शी है-

‘गोठ गाँवों
सिवानों को सूँघती
कोहरे की
स्याह नागिन ऊँघती
चुप्पियों के खेस से मुँह
ढाँपती हैं सर्द रातें
ब्याह, कारज
कचहरी की मार से
सिर झुकाये
दिन चले लाचार से
पसलियों तक पाँव मोड़े
कांपती हैं सर्द रातें।’

प्रगति और आधुनिकता के इस दौर में जीवन उत्तरोत्तर जटिल होता जा रहा है। कितना कुछ पा लेने की महत्वाकांक्षा ने मनुष्य को इतना आत्मकेन्द्रित कर दिया है कि उसने संवेदना, मूल्य, विवेक सभी को ताक पर रख दिया है। जीवन की सहजता, रसमयता छिन्न-भिन्न हो गयी है, सर्वत्र एक पथरीलापन, रेतीलापन पसर गया है, चकाचौंध, आपाधापी से भरे नगरी जीवन के खोखलेपन को उजागर करते हुए इंद्रजी लिखते हैं-

‘ओ माया नगरी
रह-रह कर छोड़ नहीं तू दुखती रग री!!
ये तेरे स्वर्ण कलश
चाँदी की दीवारें!
बौने को ढोती
धुंधभरी गजदंती मीनारें!!

कोलाहल में भटकी शाम का अकेलापन
सरेआम चौराहे पर मत यो ठग री।’

मनुष्य-मनुष्य की परस्पर आत्मीयता अजनबीपन तब्दील हो गयी है, राग और विश्वास का वह श्रोता जो मानवीय संबंधों का आधार है, कंक्रीट के जंगलों में सूख गया है। उपयोगितावाद इतना हावी हो गया है कि अपने अजनबी हो गए हैं, घर-परिवार बिखर गया है-

‘कौन यहाँ फेंक गया आकर
आँगन में
सेही का कांटा

घर कभी रहा होगा यह भी
अब तो लगता पागलखाना
रिश्तों की बेलें मुरझायी
बाकी हैं रस्में दुहराना
घावों को सहलाने वाली
हर निगाह
पड़ती ज्यों साँटा।’

ऊपर से चमकता-दमकता शहरी जीवन भीतर से ऊब और उदासी से भरा हुआ, राग रंगहीन है। शहरी भीड़-भाड़, कोलाहल में अपनापे के दो बोल कहां किसी को मयस्सर ?

सुख-सुविधाओं की जुगत में व्यक्ति नितांत एकाकी हो गया है, उसका जीवन इतना कृत्रिम -औपचारिक हो गया है कि जीवन की स्वभाविक लय लुप्त हो गयी-

कुछ भी नहीं
सुनायी पड़ता
हमको इस कोलाहल में
बिखरी कहीं
स्वरो की खुशबू
आवाजों के जंगल में
सन्नाटों पर बजने वाली
नीली वंशी टूट गयी
धुन का पीछा करने वाली है
लय भी छूट गयी
गाढ़ा कुहरा लगा उतरने
संवादों की सीढ़ी से
सूखे फूल बचे हैं
शब्दों के भाषा के आंचल में।’

यह समय बहुत ही कठिन और क्रूर है, लोगों की संवेदनाएँ पाषाणवत हो गयी हैं, कोलाहल भरे इस समय में संशय और अविश्वास का भयानक अंधेरा पसरा हुआ है, विसंगतियाँ इतनी आम हो गयी हैं कि रोशनी की उम्मीद बेमानी लगती है-

‘हाथ को न हाथ जहाँ सूझता
व्यर्थ दीप कालिमा से जूझता
हिरनी सी रोशनी मरी हुई
अस्ताचल कंधों पर ढो रहा
तारे चमके हैं आसमान में
घूमते हैं प्रेत ज्यों मसान में

लगता न जैसे कोई जागता
जीवन कफन ओढ़े सो रहा।'

जीवन-परिवेश की सात्विकता कोमलता, निर्मलता
चरम भौतिकतावादी इस दौर में समाप्त हो चली है, तरोताजा
करते रागात्मक-प्रेरक क्षणों, प्रसंगों को जिंदगी की अनवरत
व्यस्तताओं ने निगल लिया है, फलतः स्फूर्ति सुकून विहीन
जीवन जीने के लिए हम अभिशप्त हो गये हैं-

कहाँ गयी
पाँव तले की
कच्ची कोमल दूब
दूब कि जिनकी छुअन
थकन में
हिमता बोती थी
पथरीली यात्राओं में
मन-प्राण
भिगोती थी
लहरों वाली नदी पठारी
नयी रेत में डूब।

सत्ता-व्यवस्था का छद्म, सामाजिक
विखण्डन, बढ़ती असहिष्णुता-कट्टरता, निम्न वर्ग का
अभाव ग्रस्त जीवन, जैसे विषयों का भी उनके जीवन में
निरूपण हुआ है। सत्ता-व्यवस्था के जनविरोधी, दोहरे
चरित्र के कारण ही गरीबी बीमारी, अशिक्षा, बेरोजगारी,
अराजकता जैसी समस्याएँ विद्यमान हैं। समाज में बढ़ रहे
लूट-पाट, असुरक्षा, अपराध पर अंकुश लगाने में कानून-
व्यवस्था विफल रही है, यहीं नहीं कानून-व्यवस्था जब-
तब ताकतवरों के हितों को सुरक्षा भी प्रदान करती रहती
है, कानून-व्यवस्था की कमजोरी की ओर संकेत करते
हुए इंद्रजी ने लिखा है-

'हैं यहां कानून
इक नाजुक खिलौना
कांच का
मोमिया है जिस्म जिसका
पैरहन है आँच का
झूठ फिरता है यहाँ
चेहरा लगाये
साँच का
जुर्म सूली पर कभी
इंसाफ की

टँगता नहीं।'

मौजूदा समय में असमानता की खाई और
भी चौड़ी हुई है। एक तरफ मुट्ठी पर लोग हैं, जिनके
पास भोग-विलास, ऐश्वर्य के सभी साधन हैं दूसरी तरफ
करोड़ों लोग ऐसे हैं जिनके जीवन में अभाव का गहरा
अंधकार पसरा हुआ है। ४७ में देश आजाद तो हुआ किंतु
समानता और न्याय की मंजिल अभी भी कोसों दूर है।
समाज में व्याप्त असमानता, भारत और इंडिया के बीच
की चौड़ी खाई वास्तव में व्यवस्था की देन है जिसने
लोकतंत्र को लूटतंत्र बना दिया है इंद्र जी लिखते हैं-

'इस किनारे
सिर्फ तपती रेत
भूख के बंजर उगाते खेत
सिवानों पर
काँपते वट-गाछ दो बीमार से
सुना है
उस ओर रचते मेह
फूल जैसी शिलाओं की देह
हर दिशा है
गंध डूबी चांदनी की भार से।'

आज भी समाज का एक बड़ा हिस्सा निम्न
वर्ग के अन्तर्गत आता है, जो जीवन की बुनियादी सुविधाओं
से वंचित है, जानवरों से भी बदतर जीवन बसर कर रहा
है। भूखे पेट, फटे-मटमैले कपड़े पहने, खुले आसमान
के नीचे रहने वाला यह निम्न वर्ग अतुल्य भारत का एक
स्याह सच है। निम्न वर्ग की पीड़ा का इंद्रजी ने बहुत
मार्मिक अंकन किया है-

'नंगी है सुबहें सब, भूखी हैं सब शामें
यक्षों ने हेमकूट, छिपा रखा अलका में
हम घायल पीठों पर, लादे दुख के बोझों
दोपहरी भर बजते, ज्यों टूटे अलगाव
भाल पर पसीना है
आग से गुजरना है।'

सत्ता राजनीति ने अपने हितों को साधने के
लिए जन भावनाओं को भड़काकर आम जनता को धर्म
जाति, क्षेत्र, भाषा के संकीर्ण दायरों में बाँट दिया, और ये
संकीर्णताएँ कट्टर होकर मनुष्यता को ताक पर रखकर
लूट-पाट, आगजनी, रक्तपात करने लगी। फलतः शांति-
सौहार्द छिन्न-भिन्न हो गया और घृणा, भय, प्रतिहिंसा,

आशंका का विष सर्वत्र फैल गया।

‘हाथों में कैचियाँ-छुरी
काट रहे लोग पांखुरी
मौसम के गमलों में
रोप दी अराजकता
हिंसा की टहनी पर
फैल रही विभाजकता
ऐसी कुछ चल रही हवा
कौपल हर हुई खुरदुरी।’

रूप और संरचना की दृष्टि से इंद्रजी के गीतों में कलात्मक परिपक्वता है। छंद और तुक का सम्यक निर्वाह करते हुए भी उनके गीतों की लयात्मकता कहीं खंडित नहीं होती है। भाव जगत से लेकर भौतिक जगत की नाना स्थितियों को उन्होंने जिस कुशलता से निरूपित किया है, वह उनके समर्थ गीतकार होने का प्रमाण है। शब्द-चयन और अप्रस्तुत विधान में वह छायावादी कवियों की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए नजर आते हैं। भाषा में तत्समता अधिक होते हुए भी सहजता और संप्रेषणीयता है और प्रवाह भी कहीं बाधित नहीं होता है। संश्लिष्ट अर्थ-विधान और प्रतीकात्मकता उनके गीतों की अन्यतम विशेषता है। इंद्रजी अपनी अनुभूतियों को बिम्बों के माध्यम से प्रकट करते हैं। जीवन-जगत सापेक्षता, परिवेश का व्यापक बोध, गहन मानवीय सरोकार ऐन्द्रिकता, संवेदनात्मक तरलता के अर्थ संयोजन उनके बिम्बों को परिपूर्णता प्रदान करता है।

उनके बिम्बों में मौलिकताजन्य ताजगी है, यथा- अंधकार की नीरवता-भयावहता को प्रकट करते हुए इस बिम्ब को देखा जा सकता है-

‘कांधे पर
धनुष-वाण धरे हुए
भील-सा
खामोशी चीखती सियार-सी
लहरों पर डूबे सितार-सी
आँखों में चुभता सुनसान
तेज जहर बुझी
कील-सा।’

जाड़े की गुनगुनी धूप का यह बिम्ब कितना मोहक और टटका है-

‘कुहर की चुनर ओढ़े

खिड़की पर धूप खड़ी है
हौले से छू गयी हवा
किरणों की हिली अलगनी
हल्दी की गोटे वाली
चादर-सी उड़ी रोशनी।’

पौराणिक-मिथकीय संदर्भों का अर्थगर्भ प्रयोग भी वह खूब करते हैं-

‘जिंदगी ध्वस्त अलकापुरी
एक अभिशप्त गंधर्व की
किवदंती बनी रह गयी
एक भूले विजय पर्व की।’

समकालीन जीवन की विसंगतियों की ओर यहाँ कितने सटीक ढंग से संकेत किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंतर्वस्तु और अभिव्यंजना दोनों दृष्टि से इंद्र जी के गीत अत्यंत उत्कृष्ट हैं, उनके गीत नवगीत की उपलब्धियों एवं संभावनाओं का विस्तार करते हैं। वास्तव में उनके गीत अंधेरो से जूझते हुए रोशनी पर रची कविताएँ हैं। उन्हीं के शब्दों में ‘जूझकर हमने अंधेरो से रोशनी पर रची कविताएँ’।

अपने गीतों के वैशिष्ट्य को उजागर करते हुए वह कहते हैं- ‘जहाँ तक मेरे अपने गीत/नवगीत-लेखन का प्रश्न है, मैंने परंपरा की सुदृढ़ भूमि पर खड़े रहकर ही प्रयोगशीलता के क्षितिजों तक अपनी सर्जना को आयामित होने का अवकाश दिया है। अपने से प्राग्वर्ती एवं समसामयिकी लेखन में जो कुछ भी स्वीकार्य और ग्राह्य हो उसे अकुण्ठ और उन्मुक्त हृदय से स्वायत्त करना श्रेयस्कर है। ऐसी दशा में मेरे नवगीत क्रमागत परम्परा के पक्षधर होने के साथ-ही-साथ अपने समय के प्रामाणिक दस्तावेज भी हैं। कविता की मंचीय अथवा सम्मेलनीय पर्वधर्मिता, मेरे गीतों को कभी रास नहीं आ पायी, अतः मैंने ‘ताली-पिटारू’ ‘भीड़-रिझारू’ और ‘किशोरी रमण’ गीत नहीं रचे, न ही स्वर माधुरी एवं गलदश्रु भावुकता की वैशाखियों के सहारे मेरे गीतों ने सस्ती लोकप्रियता का अधिरोहण किया। कोरी भावुकता के स्थान पर मैंने रागात्मक संवेदना और अनुभूति के मर्मस्पर्शी, आसंगों को अपने नवगीतों में प्रथम स्थान पर रखा है।’ यह इंद्र जी की आत्मश्लाघा नहीं है। उन्होंने जिस आभिजात्यता, प्रयोगधर्मिता, युगबोध, स्तरीयता के सन्निवेश, अनुभूतिपरकता, रागधर्मिता का जिक्र किया

है, उसे उनके नवगीतों में सहजता से देखा जा सकता है। आपा-धापी, छल, संशय, यंत्रणा, अवसाद, अराजकता से भरा आज का समय, सचमुच एक कठिन समय है। मनुष्यता का संकट दिनोंदिन गहराता जा रहा है। राग-रस के जीवनदायिनी सोते सूखते जा रहे हैं, जीवन का स्वर शोर में बदल रहा है, शब्द अर्थहीन हो रहे हैं और अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है। विवेक टूट हो गया है, सरोकार सीमित। दृष्टि दिग्भ्रमित है, विकास विनाश का भविष्य रच रहा है। दुनिया सिमट रही है, दूरियाँ बढ़ रही हैं, विश्व को बाजार और व्यक्ति को उपभोक्ता बनाया जा रहा है। अंतवाद की घोषणाएँ और सभ्यताओं के संघर्ष की सैद्धांतिकी गढ़ी जा रही है। ऐसे समय में इंद्र जी के गीत हमें संवेदनशील बनाते हैं, हमारे विवेक को जाग्रत करते हैं, हमें स्वप्न और संकल्प देते हैं। एक गीतकार के रूप में इंद्रजी के रचनाकर्म की अर्थवत्ता, आह्वान, प्रतिज्ञा और प्रतिबद्धता को उनकी ये पंक्तियाँ बखूबी प्रकट करती हैं—

‘ज्योति की तन्वी मशालें
हाथ में लेकर

जूझते हैं हम
दिशा-व्यापी अंधेरों से
हम निरंतर कर रहे कोशिश
रात बीते यह
अमावस की
कुंद कुसुमों में बिखर जाये
यह झड़ी जो
लगी पावस की
इस घुटन में
एक खिड़की खोल खुशबू की
आँज ले दृग
हर सिंगार से कनेरों से।’

संदर्भ ग्रंथ

१. नवगीत और उसका युगबोध :सं. राधेश्याम बंधु, पृ-१०
२. घाटी में उतरेगा कौन (महेन्द्र कुमार मिश्र) के आलेख से उद्धृत
३. पहनी है चूड़ियाँ नदी ने (भूमिका से)– देवेन्द्र शर्मा ‘इंद्र’

संपर्क : 09977771846

विष्णु प्रभाकर की कहानियों में मनुष्यता की तलाश

डॉ. अर्चना पाण्डेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठतम कथा-सर्जकों में विष्णु प्रभाकर का नाम किसी परिचय की अपेक्षा नहीं रखता। उनके साहित्य के अनेक स्तर एवं आयाम हैं। विभिन्न परिस्थितियों के दबाव में निष्कम्प दीपशिखा की भाँति प्रज्ज्वलित उनका साहित्य यथार्थ एवं आदर्श की किरणें विकीर्ण करता है। सर्जनशील साहित्यिकों में प्रभाकर मानवीय संवेदना एवं मानवीय मूल्य का युगपत् निर्वाह करने वालों में अग्रगण्य हैं। अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का संवेदना की धरातल पर संप्रेष्य विवेचन उनकी कहानियों का प्राण तत्त्व है।

प्रभाकर की कहानियाँ जीवंत नैतिक मूल्यों की अधिष्ठान हैं, सत्य, दया, त्याग, करुणा, समानता, शांति और पवित्रता जैसे मूल्यों का वे निरन्तर अन्वेषण करती हैं। दर्शन एवं विचारधारा के स्तर पर गाँधीवादी चिन्तन-धारा से किञ्चितांश प्रभावित विष्णु जी साम्यवाद को पचा नहीं सके, क्योंकि उनकी प्रतिबद्धता सही अर्थों में 'मनुजत्व' से है, आपका स्पष्ट वक्तव्य है- 'वैष्णव-वृत्ति से आर्य समाज और फिर गाँधी तक की यात्रा की कहानी आपने सुनी, पर गाँधी चिन्तन-धारा को संपूर्ण रूप से स्वीकारना मेरे लिए सम्भव नहीं हो पाया। इतनी समता, ऊपर उठ पाने की उतनी शक्ति, मुझमें नहीं थी। बहुरूपी समाजवाद और वर्ग-संघर्ष तथा उत्पादन की राजनीति पर आधारित साम्यवाद भी मुझे बाँध न सका। इस यात्रा में मैं निरा अनपढ़ ही रह गया, लेकिन इसी कारण मैं अतिवादी होने से बच गया। तटस्थ रहकर मनुष्य को समझने का ही मेरा प्रयत्न रहा और प्रयत्न रहा अपनी रचनाओं में समग्र दृष्टि को रूपायित करने का।'¹ यह तटस्थता ही विष्णु प्रभाकर को सहज संवेद्यशील मनुष्य की अस्मिता की प्रतिष्ठा को अनुप्रेरित करती है।

हालांकि प्रभाकर जी के लगभग तीस कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इनका नाम परिगणन करना मेरा काम्य नहीं है, क्योंकि अधिसंख्य पाठक एवं समीक्षक इन संग्रहों में संकलित कहानियों से परिचित हैं। अतः यहाँ दीर्घ तथ्य यह है कि इनकी कहानियाँ किन सामाजिक संदर्भों एवं मानवीय मूल्यों को रेखांकित करती हैं, जिसका परिचय भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी गई उनकी कतिपय प्रतिनिधि कहानियों के अनुशीलन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विभिन्न कालखंडों में लिखी उनकी 'बैटवारा', 'क्रांतिकारी', 'पिचका हुआ केला और क्रांति', 'चितकबरी बिल्ली', 'एक मौत समंदर किनारे', 'एक और कुंती', 'पैड़ियों पर उठते पदचाप' तथा 'ठेका' जैसी कहानियाँ मनुष्यता की तलाश ही करती हैं, जिनके मूल्यांकन द्वारा यह सत्य स्पष्ट हो जायेगा।

'बैटवारा' कहानी पारिवारिक समस्या पर लिखी गई है, जिसमें रिश्तों की गर्माहट और

संबंधों की प्रगाढ़ता को दर्शाया गया है। इस कहानी में परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप मानवीय भावना किस प्रकार संकुचित हो जाती है, उसका सहज प्रस्फुटन है। हर्ष और विषाद के ऐक्य को एक साथ पल्लवित करती विवेच्य कहानी पारिवारिक संबंधों को टूटने से बचाने एवं व्यक्तिगत अहं के टकराव से उत्पन्न त्रासदी को एक साथ प्रस्तुत करती है— “सुनो विद्या, रुदन और हास्य का यह दृश्य यहीं समाप्त होता है।”² भाभी और देवर के अपनत्व भरे संबंधों के क्षरण की यह कहानी हमें संवेदना के धरातल पर स्पंदित कर मानवता की ओर अग्रसर करती है।

प्रभाकर जी की एक अन्य कहानी ‘क्रांतिकारी’ मानवीय मनोभावों— प्रेम, करुणा, दया और साहस का प्रतिफलन है। विवेच्य कहानी को वे सत्याधारित घटना का पर्याय मानते हैं और मनुजता की उच्चतम भावभूमि का अन्वेषण करते हैं, जब रमानाथ कहता है— ‘प्रेम का जो स्फटिक सोता तुम लोगों के हृदय में बहता है उसे भी सूखने न देना। सारा संसार उसी का प्यासा है। मैं भाग्यशाली था जो उस सोते का पानी पी सका।’³ क्रांतिकारियों के जीवन पर आधारित समीक्ष्य कहानी तद्युगीन समाज का आद्योपांत परिदृश्य उपस्थित कर यह उजागर करती है कि उस संक्रमणकालीन स्थिति में भी सामान्य जन उनके प्रति आत्मीयता का भाव रखता था।

विष्णु जी का कथा संसार अनेक पड़ावों से होकर गुजरता है। बदलती परिस्थितियों में उन्हें अपनी कहानियों के लिए समयानुकूल एवं संदर्भानुकूल विषय प्राप्त होते गये हैं। १९६४ में लिखी गई कहानी ‘पिचका हुआ केला और क्रांति’ परत दर परत यथार्थ को उचाड़ते हुए मानवीय संवेदना के बोध को उभारती है। यह कहानी पर दुःख कातरता एवं व्यवस्था के प्रवंचना को दर्शाती है तथा समकालीन राजनीतिज्ञों के मनोभावों को भी प्रकट करती है। जब वयोवृद्ध सांसद अपने भांजे से वृद्धा और उन लड़कों की सामाजिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहता है— ‘मामा बोले, “ये लोग गरीब हैं।”

मामा बोले हम भी नहीं जा सकते। और ये लोग तो बेहद जाहिल हैं। असल में प्रकृति जिनको जैसा बनाती है वैसे ही वे रहते हैं। उससे अधिक की आशा

करना बेकार है फिर भी हम उनकी गरीबी दूर करने की कोशिश में लगे हैं।”⁴ इस कहानी में कहानीकार ने १९६४ में भारतीय राजनीति का परिदृश्य क्या था और गरीबी उन्मूलन का नारा देने वाले नेताओं की व्यावहारिक स्थिति क्या थी? इसे पूर्णतया प्रकाशित किया है। इस कहानी के माध्यम से मानवीय संवेदना को प्रभाकर जी जागृत कर देते हैं— “दो क्षण बाद जैसे ही भाई ने पीठ दीवार से लगाई वह केला पिचक गया। तब उसे हाथ में लेकर छोटा भांजा हँसा, “देखो मामा, मरा हुआ चूहा। मामा हँसे, बोले, “शैतान, रख दे इसे, अब मत खाना।.... मामा ने भांजे से कहा, “अरे देखो, यह केला उस लड़के को दे दो, जो रो रहा है।”⁵

प्रभाकर जी की ‘एक मौत समंदर किनारे’ कहानी अत्यंत मर्मस्पर्शी, संवेद्य और मनुष्यता के संकटापन्न स्थिति की कहानी है, जो यथार्थ का धरातल पाकर अभिव्यंजित हो उठती है। १९७४ में लिखी गई समीक्ष्य कहानी सहज, सरल और निश्छल नारी जीवन में आए परिवर्तन को, मुक्त मानसिकता वाली स्त्रियों, स्त्री-पुरुष संबंधों में आए बदलाव, स्वेच्छाचारिता से उपजे मानसिक तनाव को मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्याख्यायित करती है। बदलती परिस्थितियों और बदलते परिवेश के साथ स्वयं को स्थापित करने की जो भावना जाबाला में दिखती है, वह आने वाले युग बोध में रूपायित हो जाती है, जाबाला कहती है— “मैं भी क्या छद्म शिकार नहीं हूँ। न जाने क्या-क्या लिखती रहती हूँ पर आज मन की बात लिखूँगी। ट्रंक्वेलाइजर खाते-खाते थक गई हूँ। न जाने क्या पाना चाहती हूँ।”⁶ यह आत्माभिव्यक्ति कहीं न कहीं आधुनिकता को पूर्णतया ग्रहण न कर पाने की मनःस्थिति का परिचायक है और अन्तर्मन में मनुष्यता की पहचान न कर पाने की छटपटाहट को भी प्रमाणित करता है।

प्रश्न उठता है कि आधुनिकता की इस गलाकाट स्पर्धा में, स्वयं को होम कर देने की प्रक्रिया में अन्ततः वह पाती क्या है? प्राप्त क्या करती है, उसके जीवन की परिणति किस रूप में होती है? यह स्वेच्छाचारिता अन्ततः मनुष्य को आत्महत्या की ओर ही ले जाता है, यह ही इसका अभिशाप है। वह स्वीकारती है कि “महानगरीय

सभ्यता की कल अति हो गई। शासन में बहुत ऊँचे पद पर के एक व्यक्ति बाजोरिया से मिलने आए थे।.... अचानक मेरी ओर मुड़कर वे बोले, “तुम्हारी प्रतिभा पर चकित हूँ।... सौन्दर्य और प्रतिभा का मेल विरल ही है। कल आ सकोगी मेरे गरीबखाने पर।” ... “जी नहीं” चुनने की स्वतंत्रता से बड़ी यातना और कुछ नहीं होती लेकिन कुछ भी हो मैं दोहरा जीवन नहीं जी सकती। रोबोट के यांत्रिक मन और व्यक्ति के सजीव मन में सामंजस्य कैसे हो, यह मैं नहीं समझ पा रही। शायद महानगर में मन होता ही नहीं। मिजाज या मूड होता है जो विशेष परिस्थितियों से कंडीशंड होता है।¹⁷ यहाँ प्रभाकर जी ने नारी की दोहरी मानसिकता को अन्तर्द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः जाबाला यहाँ निर्णय की स्थिति में आती है और अन्ततः वह मनुष्यत्व की कसौटी- बाह्याम्यंतर का ऐक्य के रूप को ही चयनित करती है, कोई छल, छद्म, दुर्भाव उसकी मनुष्यता को प्रभावित नहीं कर पाता।

वस्तुतः कहानीकार ने आलोच्य कहानी को नारी की स्वतंत्रता के पक्षधर होने की स्वीकारोक्ति के साथ लिखा है, परंतु यह कहानी संवेदना के अनेक धरातलों को संस्पर्श करती है। स्वतंत्रता कामी होना, मुक्तता का हामी होना अलग बात है, किन्तु केवल एक बिन्दु पर स्वाधीनता, स्वाधीनता नहीं होती, अपितु वह स्वैराचारिता को जन्म देती है। और यह कहानी स्वयं इसी की कहानी है। कहानीकार मनुष्यता की खोज को ही काम्य मानते हुए भी अनेक समस्याओं का भी चित्रण कर गया है जैसे- पुरुष नारी को किस दृष्टि से देखता है तथा जाबाला की मुक्तकामी मानसिकता उसे कहाँ ले जाती है? इन बिंदुओं के समानांतर इस त्रासद-कथा में भी मानव मूल्यों के प्रति आस्था की किरण प्रज्वलित है।

विभाजन की त्रासदी पर लिखी गई ‘एक और कुंती’ कहानी नारी मन की अन्तर्व्यथा का अत्यंत मार्मिक एवं स्वाभाविक चित्रण है। सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितिजन्य यंत्रणा को सहते हुए भी विवेच्य कहानी की नायिका, नारी मन के अनेक आयामों से पाठक को सुपरिचित कराती है, जिसमें कहानीकार की मानवतावादी दृष्टि ही अधिक व्यंजित हुई है। नूर और फारूखी के

मनुष्यता की ओर संकेत करते हुए आयशा कहती है- “मनुष्य केवल अपनी आंतरिक शक्ति के सहारे नहीं जीता बल्कि उसे उस शक्ति की भी आवश्यकता होती है जो उसे दूसरों की हमदर्दी से मिलती है।”¹⁸ यह कहानीकार का मानव मूल्यों के प्रति दृढ़ता का ही परिचायक है। आगे आयशा कहती है- “प्यारे दोस्त! प्रतिमा से सुरैया तक की यह यात्रा नारी होने की त्रासदी की यात्रा है। नर-नारी के संबंधों में नारी के हिस्से में त्रासदी ही तो आती है, जो बार-बार उसे उसकी धुरी से उखाड़ फेंकती है।”¹⁹ विवेच्य कहानी में प्रभाकर ने भारतीय शास्त्रों में वर्णित विचारों पर भी प्रश्नचिह्न लगाया है, तभी तो प्रतिमा कहती है- “...शास्त्र तो, मैंने सुना था यह भी कहते हैं कि आदमी कुछ नहीं करता। प्रकृति उसे अपने काम में जोत देती है। यानी हम यंत्र हैं किसी निश्चय करने वाली शक्ति के। तब वे लोग मुझसे नफरत क्यों करते हैं, क्यों मेरे दोस्त....”¹⁰

प्रस्तुत कहानी विभाजन की त्रासदी झेलती उन स्त्रियों की कहानी है, जो किसी प्रकार दोषी न होते हुए भी जड़ संस्कार से अवबद्ध अपने परिजनों से ही अपमानित, लांक्षित तथा पीड़ित होकर यंत्रणा एवं संत्रास भोगती रही हैं।

‘पैड़ियों पर उठते पदचाप’ में प्रभाकर जी ने दलितों की व्यथा को शब्दबद्ध किया है। जाति-भेद और वर्ग-भेद पर लिखी समीक्ष्य कहानी सवर्णीय मानसिकता का आख्यान है। रामदास, जमना (जो कि जमादारिन है) से प्रेम करता है, किन्तु उसका प्रेम दैहिक प्रेम तक ही सीमित था, अन्तर्मन की परिकल्पना से परे। इसका प्रमाण जमना का निम्नोक्त कथन है- “मैं बोलती, तू मुझे प्यार करता है न। अब बता, प्यार क्या नरक-सुरग में भेद करता है।”

“उसने क्या कहा?”

“बड़ी देर तक कुछ भी न बोला। बस, मुझे घूरता रहा। फिर एकाएक जोर से बोला, मुझे कुछ पता नहीं, पर मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। नहीं जा सकता।”

“फिर।”

“फिर मैंने कहा, मैं जा सकती हूँ और मैं जाऊँगी।”

“फिर!”

“फिर वह बोला, तेरी मरजी!”¹¹

‘धरती अब भी घूम रही है।’ प्रभाकर जी की मानवीय मूल्यों के क्षरण की अन्यतम कहानी है, फिर भी वे यहाँ भी मनुष्यता की तलाश कर ही लेते हैं। इस कहानी में पददलित मानवता तद्युगीन समाज में किस प्रकार सिसकी भर रही है, इसका निदर्शन दो छोटे बच्चों— कमल और नीना के माध्यम से हुआ है। आलोच्य कहानी प्रशासनिक भ्रष्टाचार की कथा कहती है। विवेच्य कहानी भ्रष्ट आचरण करते अफसरशाही वर्ग— चपरासी से लेकर न्यायाधीश तक की रिश्वतखोरी का उत्कृष्टम प्रमाण प्रस्तुत करती है। समीक्ष्य कहानी का विषय चेतना को गहरा संस्पर्श दे जाता है। कमल और नीना, रिश्वत लेते हुए पकड़े गए अपने पिता की रिहाई के लिए ‘जज’ के पास जाते हैं, जो सबसे बड़ा रिश्वतखोर है, उसे अपने सामर्थ्यनुसार रिश्वत देना चाहते हैं। यह रिश्वत का आग्रह, वह भी दो बच्चों द्वारा, मानवीय चेतना को झिंझोड़ देती है और यक्ष प्रश्न उपस्थित करती है कि हमारा सामाजिक तंत्र कितना भ्रष्ट हो गया है कि बाल मन भी उससे आक्रांत हुए बगैर नहीं रह सका। यहाँ कहानीकार बाल मनोविज्ञान के अद्भुत चित्रण द्वारा मनुष्यता की ही तलाश करता है। इस संदर्भ में डॉ. रमेश चन्द्र लवानिया का कथन संगत प्रतीत होता है— ‘विष्णु प्रभाकर प्राचीन नैतिक मूल्यों के कहानीकार हैं। वे व्यंग्य के स्तर

पर रिश्वतखोरी, चोर बाजारी आदि का विरोध करते हैं।... मनोविज्ञान का सहारा लेकर सटीक व्यंग्य करते हैं, जिससे नैतिक मूल्यों की स्थापना होती है।’¹²

फलतः यह कहना समीचीन होगा कि सामंतवादी, शोषकवादी नीतियों के विरुद्ध आजीवन विचारधारात्मक स्तर पर संघर्षरत रहे विष्णु प्रभाकर अपनी कहानियों में मनुष्यता का ही अन्वेषण करते रहे।

संदर्भ:

१. प्रभाकर विष्णु, ‘क्या खोया क्या पाया’, पृष्ठ-२५
२. प्रभाकर विष्णु, दस प्रतिनिध कहानियाँ, किताब घर, नई दिल्ली, १९९४ प्रथम संस्करण, पृष्ठ-२१
३. वही, पृष्ठ- ३१
४. वही, पृष्ठ- ४५
५. वही, पृष्ठ- ४४
६. वही, पृष्ठ- ५८
७. वही, पृष्ठ- ५९
८. वही, पृष्ठ- ६८
९. वही, पृष्ठ- ७१
१०. वही, पृष्ठ- ७२
११. वही, पृष्ठ- ८३
१२. लवानिया डॉ. रमेश चन्द्र, हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, अमित प्रकाशन, १९७३, पृष्ठ-२६१

संपर्क :- द्वारा- श्री प्रदीप कुमार पाठक
311, रवीन्द्र सरणी, नूतन बाजार-700006
मो. 9830839032

अमानुषिकता, अकहानी और हिन्दी कहानी

डॉ. गायत्री सिंह

मनुष्य का जातीय विकास मानवीय अस्तित्व के संघर्ष की गाथा है। मनुष्य अपने आदिम पशु रूप से विकसित होने के लिए प्रयत्नशील रहा है। इसके लिए उसने समस्त जीवधारियों में अपनी श्रेष्ठता ही नहीं साबित की, अपितु प्रकृति के नये-नये रहस्यों को अनावरित करते हुए उसने अपनी शक्ति भी बढ़ायी। इसी क्रम में उसने शासन, राजनीति, धर्म और संस्कृति का विकास किया। मानव बने रहने के लिए वह तमाम हथकण्डे अपनाता रहा और अब तक उसका सफर जारी है। यह समस्त मानवीय अस्तित्व के संघर्ष की कहानी है, परन्तु विभिन्न देशों की भिन्न-भिन्न भौगोलिक स्थितियाँ, दृश्यमान और अदृश्य परिस्थितियाँ अलग-अलग तरह के संघर्ष मानव जीवन में लाती हैं। यहीं से भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का जन्म होता है जो स्थानीय मानव व्यवहार के लिए उत्तरदायी हैं।

भारत में जब राजतंत्र था, तब भी व्यवस्था का शिकार जनता हुआ करती थी। राजा मनमाने ढंग से शक्तियों का उपभोग करता था और इकलौते राजा के हाथ में अधिसंख्य प्रजा का आधिपत्य होता था। जिसके कारण राजा राज्य के अधिकांश चीजों का प्रयोग साधिकार व खुलेआम करता था, जबकि प्रजा राजा की अनुकम्पा पर आश्रित रहती थी। कितनी विडम्बनापूर्ण बात है कि जिस व्यवस्था में मनुष्य के मानुषिक बने रहने की आस्था बसती थी, उसने सर्वाधिक मनुष्य को अमानुषिक बनाया। सत्ता और शक्ति के उपभोग ने अधिकांश राजाओं को प्रभुत्वशाली तो बनाया, परन्तु परस्पर विद्वेष, शत्रुता और राज्य विस्तार की आकांक्षा ने इन्हें आक्रामक और निरंकुश भी बनाया। जिसकी सर्वाधिक मार प्रजा को झेलनी होती थी, परन्तु प्रजा भय के कारण कुछ कर नहीं सकती थी।

आधुनिक युग में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में प्रखर हुई नवजागरण की चेतना ने वर्ण-व्यवस्था की अमानुषिकता को पहचाना और समाज सुधार के आन्दोलनों में इस विरोध को भी शामिल किया। यह समूचे भारतीय समाज की चेतना को प्रगतिशील

बनाने की आकांक्षा के साथ चला आन्दोलन था, जिसमें सामन्तवाद, साम्राज्यवाद विरोधी स्वर मजबूत था। सुधारवादी नेताओं ने वर्ण व्यवस्था का विरोध किया। महात्मा गांधी के अछूतोद्धार में भी इसे प्रतिफलित होते देखा जा सकता है। इस सामाजिक विषमता की सबसे गहरी पहचान अंबेडकर के चिंतन और संघर्ष में प्रतिफलित हुई। महाराष्ट्र के संतों, समाज सुधारकों और चिंतकों की दलित पक्षधर चेतना को उन्होंने राजनैतिक ताकत देने के लिए संघर्ष किया।

साहित्यकारों में प्रेमचन्द गहरी अन्तर्दृष्टि और वैचारिक चिन्तन के कारण सामाजिक व्यवस्था की कुव्यवस्थाओं का गहरा ज्ञान रखते थे। भारतीय समाज के अन्तर्विरोधों को उन्होंने नजदीक से देखा था और स्त्री एवं शूद्र को हाशिए पर रखने वाली जातीय वर्चस्व की समूची राजनीति को भी वे बखूबी समझते थे। उन्होंने भारतीय समाज पर जिन शक्तियों का दबदबा देखा था उसमें सामन्तों, वणिकों और पुरोहितों की त्रयी प्रमुख रूप से थी। सामन्त श्रमिकों, किसानों व गरीबों की भूमि पर लगान-पट्टी वगैरह के द्वारा, वणिक सूदखोरी के जरिये और पुरोहित जात-पात, पुनर्जन्म वगैरह का झांसा देकर उसकी चेतना को कुंद बनाये रखना चाहता था। प्रेमचन्द की कथा संवेदना में इन तीनों तत्त्वों की क्रूरताओं की पहचान मिलती है।

प्रेमचन्द के समय में जो भारतीय समाज था, उसमें वर्ण विभाजन का प्रभाव बहुत अधिक था। इसके बावजूद भी मूल्यों की प्रतिष्ठा बनी रही। इसका कारण निम्न वर्ण के लोगों की असीमित सहनशक्ति और प्रतिरोध की चेतना का अभाव ही था, ऐसा नहीं कि वर्णों की पारस्परिकता ने मूल्यों को बचाया। उच्च जातियाँ निम्नवर्णीय लोगों का शोषण जातिगत श्रेष्ठता के आधार पर करती थीं। इसका चित्रण प्रेमचन्द ने अपनी कहानी 'सद्गति' में किया है। इस कहानी में पुरोहित ने गरीब का शोषण धर्म के आधार पर किया है- कहानी का पात्र दुःखी अपने पुत्री के विवाह की साइत पूछने पुरोहित के पास जाता है, परन्तु पुरोहित उससे बेगार करवाने लगता है, हालांकि वह बीमार था, फिर भी दिन भर काम करता

रहा और काम करते हुए ही उसकी मृत्यु हो गयी। जब पुरोहित को इस बात का पता चला, उसने दुःखी की लाश किस तरह ठिकाने लगाया, इसका चित्रण प्रेमचन्द ने इन शब्दों में किया है-

*'पण्डित जी ने एक रस्सी निकाली। उसका फंदा बनाकर मुर्दे के पैर में डाला और फंदे को खींचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुंधला था। पंडित जी ने लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गये। वहाँ से आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और घर में गंगा जल छिड़का। उधर दुःखी की लाश को खेत के गीदड़ और गिद्ध-कुत्ते और कौवे नोच रहे थे। यही जीवन पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।'*¹

जातिगत अमानुषिक व्यवहार को निरूपित करती प्रेमचन्द की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' उन अमानुषिक परिस्थितियों का लिखित दस्तावेज है, जिसमें निम्न जातियाँ जीवन व्यतीत करने को विवश होती हैं।

'जोखू कई दिन से बीमार है। कुछ देर तक तो प्यास रोके चुप पड़ा रहा, फिर बोला- अब तो मारे प्यास के रहा नहीं जाता। ला, थोड़ा पानी नाक बन्द करके पी लूँ।'

गंगी ने पानी न दिया। खराब पानी पीने से बीमारी बढ़ जायेगी- इतना जानती थी, परन्तु यह न जानती थी कि पानी को उबाल देने से उसकी खराबी जाती रहती है। बोली- यह पानी कैसे पियोगे? न जाने कौन जानवर मरा है। कुएँ से मैं दूसरा पानी ला देती हूँ।

जोखू ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा- दूसरा पानी कहाँ से लायेगी?

ठाकुर और साहू के दो कुएँ तो हैं, क्या एक लोटा पानी भरने न देंगे?

हाथ-पाँव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राह्मण-देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पांच लेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है? हम तो मर भी जाते हैं, तो कोई दुआर झांकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगे?

गंगी दबे पाँव कुएँ की जगत पर चढ़ी। ... उसने रस्सी का फंदा घड़े में डाला। ... घड़े ने पानी में गोता लगाया, बहुत ही आहिस्ता। ... गंगी झुकी कि घड़े को पकड़कर जगत पर रखे, कि एकाएक ठाकुर साहब का दरवाजा खुल गया।...

गंगी के हाथ से रस्सी छूट गयी।... ठाकुर 'कौन है, कौन है', पुकारते हुए कुएँ की तरफ आ रहे थे और गंगी जगत से कूदकर भागी जा रही थी।

घर पहुँचकर देखा कि जोखू लोटा मुँह से लगाये वही मैला-गंदा पानी पी रहा है।¹

ऊँची जातियों के प्रति मन में छाये आक्रोश के बावजूद 'गंगी' समाज व्यवस्था से डरती है। वह अपने आक्रोश को उन पर व्यक्त नहीं करती, अपितु अपनी ही अन्तरात्मा को कष्ट देती रही है और यही हकीकत उसके जैसे सारे लोगों के लिए एक जैसी है। 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर अपने जीवनाभावों में भी सन्तुष्ट जीवन जीता है। द्वार आये महात्मा के आतिथ्य सत्कार के लिए विप्र जी के यहाँ से 'सवा सेर गेहूँ' ले आता है और यही 'सवा सेर गेहूँ' उसके जीवन का काल बन जाता है। इस सवा सेर गेहूँ का ऋण उसके सन्तान को बधुआ मजदूर बना देता है।

इन्हीं परिस्थितियों की उपज घीसू-माधव हैं, जिन्होंने अपने समाज में ऊँचे तबके द्वारा किये जा रहे शोषण को देखा है। वे जानते हैं कि कठिन श्रम के बावजूद भी वे अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर पायेंगे। उनके श्रम का फायदा किसी और को मिलेगा। इसलिए उन्होंने भी फायदा उठाना सीख लिया। दान-पुण्य के या फिर बड़प्पन के दिखावे में ऊँचा तबका उन्हें दो रोटी दे ही देगा और इसी पर वे अपना जीवन व्यतीत कर लेंगे, इस तरह कोई उनके श्रम का शोषण भी नहीं कर पाएगा। इस मनोवृत्ति की जनक यह सामाजिक व्यवस्था ही है, जिसने जातिगत और आर्थिक असमानता को प्रश्रय दिया है। घीसू-माधव के व्यवहार में स्पष्टतया दिखायी दे रही अमानुषिकता उन्हें उनकी चालाकी भरी सोच के बावजूद भी दारुण और दयनीय ही बनाती है, बल्कि सोच के स्तर पर आयी चालाकी और अकर्मण्यता अमानुषिकता

की स्थिति को भयावह बनाती है।

विडम्बना की बात है कि जिस 'स्वतंत्रता' से समाज का प्रत्येक तबका परिवर्तन की उम्मीद लगाये बैठा था कि उसमें परिस्थितियाँ बदलेंगी परंतु उसमें जीवन संकट का इजाफा ही हुआ। हिन्द-पाक विभाजन के कारण हुए सांप्रदायिक दंगे व लूट-पाट ने मानवता की धज्जियाँ उड़ा दी। वहशीपन और क्रूरता ने पशुता को भी बढ़ा दिया। भीष्म साहनी की कहानी 'अमृतसर आ गया है' में इसे देखा जा सकता है। कृष्णा सोबती की कहानी 'सिक्का बदल गया' विभाजन के कारण हो रहे विस्थापन और सम्बन्धों में यकायक बदलाव का सच्चा आईना है। 'साहनी' घर छोड़ते समय वहाँ की कोई चीज अपने साथ नहीं ले जाना चाहती क्योंकि गहने-आभूषणों से उसे मोह नहीं हैं। जिनका मोह है वे उसे सुरक्षित छोड़कर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाना चाहते हैं।

मोहन राकेश ने अपनी कहानी 'मलबे का मालिक' में विभाजन के फलस्वरूप आयी दूरियों को मिटाने का प्रयास किया है, परन्तु जिस 'रक्खे पहलवान' ने अपने पड़ोसी गनी मियाँ के परिवार को तबाह किया, उसके हृदय में संशय व आशंका है। गनी मियाँ तो अपने पुराने सम्बन्धियों को आर्द्र नेत्रों से देखता है, खुले हाथों से स्वागत करता है, परन्तु अब वह प्रेम, सहयोग व सौहार्द ही कहाँ है, जो हृदय से हृदय को जोड़ दे?

अमरकान्त की कहानी 'डिप्टी-कलकटरी', 'दोहर का भोजन', 'जिंदगी और जोंक', 'हत्यारे', 'सुख-दुख का साथ' आदि में जीवन की विषम परिस्थितियाँ और व्यक्ति के संघर्ष को देखा जा सकता है। मोहन राकेश ने 'पाँचवे माले का फ्लैट', 'मिस पाल' कहानियों में इसे चित्रित किया है।

भीष्म साहनी ने अपनी 'ओ हरामजादे', 'मौका परस्त' आदि में अमानुषिक जीवन व्यवहार को प्रदर्शित किया है।

शेखर जोशी की कहानी 'बदबू', 'नौरंगी बीमार है', 'मेण्टल', 'निर्णायक', 'साथ के लोग', 'दाज्यू' पतनशील मूल्यों के साथ व्यक्ति के संघर्ष व जिजीविषा को अभिव्यक्त करती, अमानुषिकता से लड़ती सच्ची

यथार्थ कहानियाँ हैं, जो उनके जीवनानुभवों से जुड़ी कहानियाँ हैं।

‘बेशक आजादी के बाद, आजादी से पहले वाली स्थिति नहीं रह सकती थी। स्वतंत्रता के लिए लड़ना एक बात है और स्वतंत्रता को संभालना, उसे सुदृढ़ बनाना, प्रशासन चलाना, राष्ट्रीय जीवन के लिए नये-नये आधार स्थापित करना बहुत बड़ा काम है, जो एक दिन में नहीं पूरे किए जा सकते। हम शायद जरूरत से ज्यादा उतावले हुए जा रहे थे। नदियों पर बांध बनाने में, कल-कारखाने खड़े करने में, धरती के कोख में से खनिज पदार्थ निकालने में, कृषि और उद्योग के विकास में, इन बातों में वक्त लगता है। हजारों साल की गरीबी एक ही दिन में छू-मंतर नहीं हो जाती। पर इस सबके पीछे साझे प्रयास की भावना नहीं थी, और फिर जीवनयापन उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा था। व्यवस्था में कोई वांछित परिवर्तन भी नहीं हो रहा था।’

इसके साथ जीवन की जटिलताएँ भी बढ़ीं। असमानता बढ़ने लगी। सामाजिक जीवन में अन्तर्विरोध और विसंगतियाँ बढ़ने लगीं। जनसाधारण का जीवन-संघर्ष भी बढ़ी कीमतों और बेरोजगारी के कारण और अधिक जटिल होने लगा। इसका असर हमारे सामाजिक जीवन और हमारी दृष्टि पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। साहित्य में संशय और अस्वीकृति के स्वर सुनायी देने लगे। कहीं-कहीं पर यहाँ तक मोहभंग हुआ कि जीवन ही निरर्थक नजर आने लगा, परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों पर से विश्वास उठता जान पड़ने लगा। फिर भी साहित्य के मानवीय स्वर बहुत कुछ बने रहे। यह वही दौर था, जब कहानी के क्षेत्र में अलग-अलग नामों से अनेक ‘आन्दोलन’ चले, जिसका चरम बिन्दु ‘अकहानी आन्दोलन’ को कहा जा सकता है, जिसमें न केवल नैतिक मूल्यों को नकारा गया बल्कि कहानी के रूप और गठन को भी तोड़ डालने की कोशिश की गयी।³

‘अकहानी का दौर न सिर्फ नयी कहानी की संवेदनधर्मिता और अनुभवबद्धता के सामने प्रश्न चिन्ह रख रहा था, बल्कि उस माहौल की तरफ भी इशारा करता था जो चीन-भारत युद्ध के बाद नये सामाजिक-राजनीतिक संयोजन और कांग्रेस की चुनावी असफलता से पैदा हुआ था।’⁴

‘साठोत्तरी वर्षों में अकहानी नाम से जिस कहानी आन्दोलन को जाना जाता है, वह अकविता आन्दोलन की ही तरह निम्नमध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के अराजक क्रोध का एक अनगढ़ प्रतिफलन था, उसमें वैचारिक स्तर पर सर्वनिषेधवाद था। इस व्यवस्था के सांस्कृतिक पतन और सड़ांध का ही वह नंगा प्रतिबिम्ब था। उसने हमारे यहाँ की यथार्थवादी परम्परा में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया, अलबत्ता कुछ ऐसे विकार जरूर पैदा किए जिनसे हमारी हिन्दी कहानी आज भी मुक्त नहीं हो पायी है।’⁵

‘हिन्दी कहानी को लेकर विगत दशकों में जो आन्दोलन चलाए गये उनमें अधिकांश आन्दोलनों के मूल में नेतृत्व की महत्वाकांक्षा, आत्मप्रचार और स्वयं को प्रतिष्ठित करने की लालसा रही है। यदि आन्दोलन व्यापक और वैचारिक धरातल पर आधारित हो और स्वस्थ सामाजिक उद्देश्यों के लिए प्रतिश्रुत हो तो निश्चय ही आत्म प्रचार के लिए खड़े किए गए आन्दोलन स्वयं अपनी मौत मर जाते हैं और नव लेखन को दिग्भ्रमित करते हैं।’⁶

अलखनारायण ने अपने लेख ‘अकथात्मकता का संदर्भ और हिंदी कहानी’ में अमानुषिकता का संबंध अकहानी से जोड़ा है। अकहानी का दौर हिन्दी कथा साहित्य में शताब्दी के सातवें दशक में माना जाता है। अकहानी में मुख्यतया काम सम्बन्धों का चित्रण हुआ है और कहानी संबंधी किसी भी सीमा या वर्जना को तोड़ा गया है। अकहानी में मुक्त काम संबंधों को खुलकर स्वीकार किया गया है यहाँ तक कि अप्राकृतिक मैथुन, पशु मैथुन आदि पर भी कहानियाँ लिखी गयीं। इन्हीं कहानियों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कमलेश्वर ने धर्मयुग में-प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध लेखमाला ‘ऐय्याश प्रेतों का विद्रोह’ में कहानी को ‘जांघों के जंगल में भटकना’ कहा।⁷

अकहानी रचनाकारों में जगदीश चतुर्वेदी, श्रीकांत वर्मा, प्रबोध कुमार, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह आदि कहानीकार प्रमुख हैं। ‘जहाँ तक अमानुषीकरण की समस्या के चित्रण का प्रश्न है, इसका चित्रण हिंदी

कहानी में भूख-रोग, भिक्षावृत्ति, दरिद्रता, अपराध, क्रूरता, दमन हृदयहीनता आदि के विभिन्न समस्यामूलक रूपों के पहले भी होता रहा है, किन्तु सातवें दशक की कहानी में इस समस्या के चित्रण की विशेषता यह है कि उसमें भाग्य, ईश्वर, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि की धारणाएँ बिल्कुल त्याग दी गयी हैं।⁸

ऐसा इसलिए संभव हो पाया क्योंकि 'विज्ञान व आधुनिकता बोध ने मनुष्य की चेतना का विकास किया और धर्म, रूढ़ियों और कर्मकाण्डों में छिपी शोषण वृत्ति व असमानता के स्वर का पर्दाफाश किया। धर्म बताते थे कि इस जीवन के बाद स्वर्ग मिलेगा। इसलिए इस संसार को अभी जैसा है वैसा ही स्वीकार कर लो और इसे बदलने की कोशिश न करो। दूसरी ओर पूँजीवाद था जो सभी की समानता की बात करता है लेकिन अमीर-गरीब के भेद को बनाए रखने की हर संभव कोशिश करता है, जिससे उसे सस्ता श्रम मिलता रहे और विषमता की जमीन पर दूसरों का फल हड़पकर कुछ लोग मोटे होते रहें। इन दोनों के विपरीत समाजवाद का कहना था कि इस जीवन के पार स्वर्ग होने की बात उन्होंने फैलायी, जो इस समाज के सारे सुख भोगते हैं। धर्म सत्तावर्ग का हथियार है और शोषितों के लिए अफीम। वह पुनर्जन्म, कर्मफल व स्वर्ग के सुखों की

बात इंसान को ठोस दुर्निवार विरोध करने से रोकता है, जहाँ उसके दमन के बल पर महल-रियासतें और जागीरें खड़ी की जाती हैं। उत्पादन करने वाले जंग की निरर्थक हो जाती हैं क्योंकि उत्पादन के साधन पर मालिकाना हक रखने वाले के हाथ सारी ताकत और सुविधाएँ मौजूद होती हैं।⁹

संदर्भ :

1. प्रेमचंद, 'सद्गति', संकलित कहानियाँ,
2. प्रेमचंद 'ठाकुर का कुआँ', संकलित कहानियाँ,
3. भीष्म साहनी, भूमिका, हिन्दी कहानी संग्रह, पृ. सं 12
4. आनन्द प्रकाश, 'हिन्दी कहानी की विकास प्रक्रिया' लोकभारती प्रकाशन, पृ. सं 119
5. चंचल चौहान, 'हिन्दी कहानी: यथार्थवाद के विविध आयाम', 'युद्धरत आम आदमी' संयुक्तांक अंक 4-5, पृ. सं 261
6. शेखर जोशी, वागर्थ , अप्रैल 1996, पृ. सं 17
7. रमेश उपाध्याय, 'अमानुषीकरण और 'अजनबी सुख', कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, पृ. सं 177-78
8. रमेश उपाध्याय, 'अमानुषीकरण और 'अजनबी सुख', कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, पृ. सं 179
9. वैभव सिंह, 'रूसी क्रांति के नब्बे साल' समयान्तर, फरवरी 2008, पृ. सं 25-26

संपर्क : 09452837939

कविता

राजकुमार कुम्भज

राजकुमार कुम्भज 'तार सप्तक' की परम्परा में 'चौथा सप्तक' के दूसरे कवि हैं। १९४७ के १२ फरवरी को मध्यप्रदेश के एक गाँव में जन्म, बचपन इन्दौर में बीता, वहीं से समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र में क्रमशः १९६९ एवं १९७१ में एम. ए. किया। उनके अनुसार, "कविता, मनुष्य में मनुष्य की दिलचस्पी का पहला कारण है। वह मनुष्य के लिए, मनुष्य से मनुष्य का बीच काटती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि कविता खास तौर पर उस मनुष्य की तरफ से अथवा तरफ में बोलती है, जिसका क्रम तीसरा है। यानी तीसरे मनुष्य की तकलीफ, कष्ट, दुःख और मुसीबत को अभिव्यक्ति देना और इस तीसरे मनुष्य को दूसरे तथा पहले मनुष्य के ऊपर लाना ही उस का असली कर्म है।" — चौथा सप्तक

श्रीमान् 'ग'

श्रीमान् 'ग' को आप गधा भी कह सकते हैं
हालांकि हमारे देश के गधे, जूता नहीं पहनते हैं
किंतु श्रीमान् 'ग' पहनते हैं
क्योंकि वे गधा नहीं, श्रीमान् 'ग' हैं
श्रीमान् 'ग' होना, गधा हो जाना नहीं हो जाता है
जूता पहनकर गधा हो जाना अलग होगा है
जो भी पहनते हैं जूता, थोड़ा अकड़कर चलते हैं
और जो पहन ही नहीं पाते हैं जीवन भर जूता
देखकर श्रीमान् 'ग' को, पहने हुए जूता
हरदम थोड़ा सिकुड़कर चलते हैं
कहने वालों का क्या जाता है ?
बीत जाती हैं सदियां-दर-सदियां भी तो क्या ?
श्रीमान् 'ग' को कुछ भी कह सकते हैं आप
लेकिन 'ग', श्रीमान् 'ग' ही बने रहते हैं
श्रीमान् 'ग', श्रीमान् 'ग' बने रहना
किसी एक खास किस्म का अंधत्व है
कुछ लोगों की मान्यता है
कि श्रीमान् 'ग' का यह अंधत्व

श्रीमान् 'ग' का वैचारिक गंजत्व है
वे, सुबह-शाम बदलते रहते हैं जूता फिर भी
वे, सुबह-शाम बदलते रहते हैं टोपी फिर भी
वे, जूते और टोपी में करते नहीं हैं फर्क ज़रा भी
अक्सर ही बदलते रहते हैं ईमान की तरह
उनके जूते और उनकी टोपी के रंगारंग तर्क अनेक
श्रीमान् 'ग' को आप गधा मत कहिए
जब तक भी सह सकते हों
किसी फालतू बोझ की तरह, सहिए
और उनके जूते, उनकी टोपी के रंगों से डरिए
उन रंगों के विवरण कभी भी, कुछ भी हो सकते हैं
वे, अपनी-अपनी अंतर्आत्माएँ बदल भी सकते हैं
जो, कल तक इधर थे, वे उधर हो सकते हैं
और जो उधर थे, वे इधर हो सकते हैं
वे पेड़ नहीं, आम गिनते हैं
अपने काम से काम रखते हैं
आम आदमी को आम की तरह चूसते हैं
और गुठलियाँ दूसरों के दरवाजों पर फेंक देते हैं
श्रीमान् 'ग' को आप गधा कह भी सकते हैं और चाहें
तो सुअर भी।

एक अकेला आदमी

एक अकेला आदमी
 शायद एक अकेले का कोई वजूद नहीं होता है कहीं
 क्या वाकई एक अकेले का कोई वजूद नहीं होता है कहीं भी ?
 एक अकेले आदमी को किसी भी नाम से पुकारो, वह अकेला है
 क्या फर्क पड़ता है कि उसे 'क' कहा जाए या 'ज़' ?
 एक अकेला आदमी तो जिंदगी की धधक रही
 बारहखड़ी में गुम है
 कहीं बाप, कहीं आप, तो कहीं तुम है, कहीं तू
 एक अकेला आदमी,
 वाकई एक अकेला आदमी है, एक अकेली बूंद जैसा
 और शायद, एक अकेली आखिरी बूंद जैसा भी
 उसका वजूद नहीं, फिर भी, उसके जेहन में
 'क' से 'ज़' तक की मौजूद मिलती है पीड़ाएँ
 पीड़ाएँ वे, जो सदियों की
 पीड़ाएँ वे, जो नदियों की
 पीड़ाएँ वे, जो कवियों की
 एक अकेला आदमी
 शायद एक अकेले का कोई वजूद नहीं होता है कहीं
 क्या वाकई एक अकेले का कोई वजूद नहीं होता है
 कहीं भी ?
 नहीं, ऐसा नहीं होता है
 आदमियों के भीड़ में जब चलता है एक अकेला आदमी
 तो भीड़ में चलता हुआ एक अकेला आदमी बहुत कुछ
 सोचता है
 और भीड़ में चलता हुआ एक अकेला आदमी
 जब भीड़ में चलते हुए भी बहुत कुछ सोचता है
 तो भीड़ के सोचने से, कुछ भिन्न ही सोचता है
 भीड़ से अलग सोचने की इस भिन्नता के कारण ही
 भीड़ से बहुत-बहुत भिन्न होता है
 एक अकेला आदमी।

वक्रत आने पर

वक्रत आने पर
 लोहा तो झुक जाएगा जरूर
 लेकिन हरी घास नहीं झुकेगी
 कुछ देर झुकने का आभास देगी
 और फिर से तनकर खड़ी हो जाएगी
 मैं, लोहे से लोहा लेना चाहता हूँ
 मैं, लोहे से लोहा लेने के लिए
 लोहा नहीं, घास बनना चाहता हूँ
 क्योंकि शत्रु के शक्ति का आकलन है मुझे
 यक्रीनन ये तय है
 कि लोहे से लोहा लेना है मुझे
 और अतिरिक्त नहीं है इसका विकल्प कोई
 जैसे नहीं होता है कोई विकल्प पानी का
 मैं तपा हूँ, तपता हूँ, जीवन की मिट्टी में
 जिस तरह तपता है आग में लोहा
 ज़ाहिर है, ज़ाहिर है, ज़ाहिर है
 कि लोहे से लोहा लेने के लिए तपना ही होता है
 जैसे कि सुलगते अंगारों पर तपता है लोहा
 लोहा और मैं एक
 आग और जीवन एक
 ताप और तपन एक
 वक्रत आने पर
 लोहे को तो झुकाया जा सकता है मन-माफ़िक
 किंतु उस बिगड़ैल हरी घास का क्या कीजिए
 जो आभास देती है झुकने का ज़रा-ज़रा अक्सर
 लेकिन, फिर-फिर उठा लेती है सिर
 वक्रत आने पर ?

मुझे माफ करो क्योंकि मैं कवि हूँ

घास की तरह झुकना चाहता हूँ
 किंतु दियासलाई की तरह सुलगना भी चाहता हूँ
 और यह भी कि जंगल में आग की तरह धधकना
 चाहता हूँ
 जंगल में धधकती आग की तरह धधक अभी आ नहीं
 पा रही है मुझमें तो क्यों ?
 तो फिर, कवि जैसा मुझमें बचा ही क्या है ?
 तो फिर, आग जैसा मुझमें रचा ही क्या है ?
 मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ
 कि खरगोश का गोشت खाकर जिंदा हूँ
 वह वक्त आ ही गया है अब
 कि अंधे ही बताएंगे रास्ता
 और गूंगे ही सिखाएंगे बोलना
 मुझे माफ करें क्योंकि मैं कवि हूँ
 और अपंग।

खबर उस कवि के मरने की

कविताओं में से निकलती हैं कविताएँ
 कहते हुए एक आदमखोर घुस गया कविताओं में
 आदमखोर के घुसते ही विस्तार मिला भय को
 और कविताओं के क्षेत्र में अकाल इत्यादि भी
 जिस तरह कविताओं के अपने आइने होते हैं
 आदमखोर ने भी बना ही लिए थे कुछ अपने आइने
 अपनी पसंद के आईनों में
 अपनी पसंद का देखना पसंद आता है सभी को
 कहते हैं कि आईना झूठ नहीं बोलता है
 अंदर जो मचल रहा होता है वह, तो उसे भी खोलता है
 कविताओं में से निकलती हैं कविताएँ
 किसी न किसी दुःख की तरह, कहा किसी कवि ने
 और खबरों की खबर में छुप गई वह खबर
 खबर जो उस कवि के मरने की।

संपर्क -

३९१, जवाहरमार्ग, इन्दौर-४५२००२

फोन-0731-2543380

डॉ. शान्ति सुमन

डॉ. शांति सुमन का जन्म १५ सितम्बर १९४४ को उत्तर बिहार के सहरसा जिला के अन्तर्गत कासिमपुर गाँव में हुआ। वे नवगीतकार एवं वरिष्ठ जनवादी गीतकारों में अपनी एक अलग पहचान रखती हैं। इनका पहला नवगीत संग्रह 'ओ प्रतिक्षित' सन् १९७० ई. में प्रकाशित हुआ। तब से लेकर सन् २०११ ई. तक उनके दस काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ. शांति सुमन की कविताओं में अपनी माटी की महक है जो उन्हें नवगीत से जनगीत की ओर यात्रित करती है।

कोई दुख अपना

जब भी तुम चुप रहती
तुझमें बहती एक नदी दिखती है
बहती वह चुपचाप—
धार को भीतर ही मोड़े
कितना भी लिख देती लगते
फिर भी कागज कोरे
रेती पर हर बार उतरती
आँखों से पानी लिखती है
तुमसे मुझको जोड़े रहता
एक कोई दुख है अपना सा
उसकी भाषा धारदार थी
अब तो मौन हुआ सपना सा
कभी गुलाबी रंगत भरती
दिन को कंधे पर रखती है
घाटी की सड़कों पर जैसे
हरियाली में बच्चे खेले
आँचल में बाँधे जैसे माएँ
दिन-दुपहर में रोटी बेले
जालों के धीवर के तनती
कोई धूप-कथा लगती है।

गेरू के रंगों से

पेड़ों पर उतरा है मौसम
चिड़िया जान गयी है
प्यार नहीं छिपता है जैसे
मन से मान गयी है
भींगे हुए कदम्ब के वन में
गाती हुई हवाएँ
पलथी मारे धूप उझकती
मुस्की लिये जवाएँ
औचक लहरें तट पर आकर
बात अकान गयी है।
बादल का रुक-रुक कर आना
फिर और चले जाना
ललाये गेरू के रंगों से
अनुबंधों का लिखना
नीड़ों के तिनके को चुनते
हुई थकान नयी है।
दिनों भर सूरज से बतियाना
चंदा से रातों में
कोई समझे कहे तो किससे
उलझी है बातों में
बाँट रही है अँजुरी भरकर
खुशियाँ मिली कई हैं।

एक कोमल प्यार

कभी नदी के तट सरीखी
कभी उफनी धार
रंग से भर दिया तुमने
एक कोमल प्यार

जिन्दगी जैसे गमकती
जूही की हो पंखुरी
एक इंगूरी कथानक
लिख रही हो बाँसुरी
गूँथते साँसें सुरीली
मोतियों के हार

लाल पंखों पर बया के
उतरती आई हवायें
रात के माथे चमकती
चाँदनी की वे कथायें
छंद से लिखते रहे हैं
सामने कचनार

हरी दूबों पर सुबह की
गीत बनती किरण-लाल
खेत-वन में बुन रही हो
सगुन रूपों की मराली

फूलों में भाषा

नदी प्रेम की
तुमसे चलकर मुझ तक बहती है

डालों से हटकर चुनती है
बया यहाँ तिनके
रोशनदानों पर ही अब हैं
राजभवन इनके

दोने भर के
फूलों में ही भाषा पलती है

जब-जब किरणों में सूरज की
है आकाश नहाता
पलकों पर बैठा मौसम का
गीत नया गाता
अंगों में ये
पुलकों की बूँदी सी रहती हैं

वे खिलती हैं सियाँ जब रंगदे
झरना-मुख दिन को
छोटे-छोटे सुख की गठरी
में बाँधे मन को

उतर रही हो
पुरइन पर जलमोती लगती है।

36, ऑफीसर्स फ्लैट्स, जुबली रोड,
नार्दर्न टाउन, जमशेदपुर- 831001 (झारखंड), मो. 09430917356

सिर्फ देखने की इजाजत है

ओह, फिर गिर गया
 वह पका हुआ अमरूद
 चोंच मारते ही
 रह गया स्वाद से वंचित
 वह नौसिखुआ तोता
 एक दूसरा
 बड़े गौर से देख रहा
 डाल पर बैठकर चुपचाप
 वंचना में लिपटी काया
 अबकी जा बैठी डम्हाए फल के पास
 मजे से कुतरने लगी
 गूदे का स्वाद ले बीज छान्टने लगी
 एक सयाना उलटा लटका
 पकड़ लिया कसकर एक अधपका फल
 एडवेंचर में रस ले रहा जमकर
 गौर से देखनेवाला
 अब रोक नहीं पाया अपने को
 इधर-उधर डालकर नजर
 अपने मन लायक चुनकर
 जा बैठा बड़े प्रेम से
 सम्हालकर लिया अपने दोनों पंजों में
 कुतरने लगा अमरूद
 एकाग्रचित्त
 तन्मय तोता
 अहा! कितने सारे
 अमरूद के पेड़ पर
 फल ही नहीं
 तोतों के फूल हैं खिले हुए
 शब्द एकदम नहीं
 इस्स...शोर एकदम नहीं
 इस वक्त
 सिर्फ देखने की इजाजत है तुम्हें

डॉ. मनीषा झा

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
 उत्तर बंग विश्वविद्यालय, सिलीगुड़ी (पश्चिम बंगाल)

पत्ते उठो

ठंड की मार सहते
 निष्प्राण-से हो गए
 पत्ते उठो
 हिम्मत तो बटोरो
 आँख उठाकर देखो
 जरा अपने डैने झटकाओ
 हरकत में आओ
 उतर रहा है बसंत का हेलीकॉप्टर
 पेड़ों के देश में
 नयनाभिराम वेष में
 आ पहुँचा है वह
 तुमसे मिलने
 बिल्कुल तुम्हारे लिए
 आदमी के देश में
 जाते-जाते पहुँचेगा
 पता नहीं आदमी
 पहचाने भी कि न पहचाने
 बदल चुके जमाने मे
 फिर किस रीति से मिलेगा वह?

कभी-कभी

सामने है गुलाब ही गुलाब
रूफ गार्डन के बीच वह
अगल-बगल कुछ खाली छतें
छोटी-बड़ी छतें-ही-छतें
कई रंग जुड़ गए हैं नए इस जमाने में
नजर टिकाने के लिए
आसमान
अभी भी सबसे सुलभ
सुकूनदायक

देखती है आसमान
तो विशाल कंचनजंघा की एक झांकी
उसकी आँखों में समा सकी जितनी

सांझ के समय में ही नहीं
प्रौढ़ हो चले उसके
मन में भी उतर रहा

किसी की याद-
हाँ वह मेरी बच्ची
गोद में किलकती

तभी उदित हुआ हठात्
अपने नियत समय पर
वह शुक्र तारा
धीरे-धीरे वंश-बेल बढ़ेंगे
आएँगे और भी तारे

टिम-टिम करते हुए
नाचेंगे टुम्मक-टुम्मक
आसमान का विशाल हृदय
धड़केगा जरूर

और वह भी तो होगी
अपने काम-धाम में लगी
ऑफिस से घर लौट रही

और ये चिड़िया अपने डैनों में बल भरकर
आसमान के बहुत बहुत नीचे से

चली जा रही हैं कहाँ से कहाँ
सधी हुई चाल से

हाँ, यह रोजमर्रा की गति है
कुछ नया नहीं
पर यह भी यही

आती है वह छत पर कभी-कभी
बनता है आसमान में
कंचनजंघा भी / कभी-कभी ही

रोजमर्रा नहीं है अब
स्मृतियों की आवाजाही।

अपने में प्रसन्न

परती पराट
न कोई पौधा, न पेड़ों की जमात
वह अकेला
झबरीला
आम का पेड़
बन-संवरकर
भव्य दिख रहा है

रूप-रंग से संपन्न
अपने में प्रसन्न
क्या जाने
दुनिया में क्या-क्या घट रहा है

केवल आकर्षण
न कोई आमंत्रण
जो लोभ में है वह खिंचा जा रहा है
स्वयं बढ़ रहा है
उसके पास
पर लौटे उदास

आरक्षण में है जो
वह कहाँ दे पाता है संरक्षण।

उनके लिए भी

चलना है केवल
अपने लिए ही नहीं
उनके लिए भी
जिनके सामने से गुजरते हैं हम
कहते हैं वे पेड़
जिनके टूसे सुनहले हैं
और पल्लव चमकीले
जिनमें लगे हुए हैं बस काम के पत्ते
सजना है केवल
अपने ही लिए नहीं
उनके लिए भी जिनकी
नजरों के सामने से गुजरते हैं हम
कहते हैं वे पेड़
जिनके टूसे तोतारंगी हैं
और पल्लव हरे-हरे
लदे हुए हैं जिनमें भारी-भारी गाढ़े पत्ते
रहना है केवल
अपने लिए ही नहीं
उनके लिए भी
जिनके बिना नहीं रह सकते हम

कहते हैं वे पेड़
जिनके टूसे गुलाबी हैं
और पल्लव ललछौंहे
जिनमें लगे हुए हैं पत्ते ही पत्ते
खिलना है केवल
अपने ही लिए नहीं
उनके लिए भी
जो करते हैं संसार को प्यार
कहते हैं वे पेड़
जिनके शीर्ष पर
खिले रहते हैं फूल
लाल नीले पीले
भूरे सुनहरे
गुलाबी-सफेद रंग-बिरंगे फूल
केवल फूल ही फूल
वह पेड़ यह पेड़
ये पेड़ वो पेड़
सारे के सारे पेड़
कहते हैं और कहते जाते हैं
अपने लिए ही नहीं
उनके लिए भी
उनके लिए भी।

संपर्क : 09434462850
Email : manisha_nub@yahoo.com

राज्यवर्द्धन

जन्म : 30.06.1960 (जमालपुर, बिहार)

सुपरिचित, कवि, समीक्षक एवं स्तंभकार

मैं शायर बदनाम !

चाहता हूँ लिखना
एक ऐसी भाषा में कविता
जो जुड़ी हो-
जमीन से
जिसमें आती हो खूशबू-
पसीने की

चाहता हूँ कि
कविता खड़ी हो
उन लोगों के साथ
जिनके साथ सदियों से
कोई नहीं खड़ा है

जानता हूँ-
जादुई यथार्थ सा है
जिनका जीवन
उनको नहीं भायेगी
मेरी कविता

करेंगे खारिज़
कविता को
यह कह कर कि
जीवन और जगत के सौन्दर्य को
तराशने की तमीज़ नहीं है
अफसोस नहीं कि
मैं हो जाऊँ
शायर बदनाम !

कोकराझार

प्रकृति ने उकेरा
कैनवास पर
सुंदर सा लैंडस्केप
'कोकराझार'
दूर-दूर तक फैली
हरा-कचोट धरती
और भाल पर दमकता
टिकुली सा नारंगी-लाल रंग का
नन्हा सूरज/सुबह का
हरियाली पर छितराई
सुनहली गुनगुनी धूप
ज्यों शिशु की किलकारी गूँज रही हो
फिजां में

करता था-
मन को मुदित
प्रकृति का यह दृश्य
बार-बार/देखने वालों को
किसी शांतिर ने
अपने स्वार्थ के लिए
प्रकृति की चित्रित लैंडस्केप में
नन्हें सूरज की जगह
नारंगी-लाल रंग के
आग की लपटों को
दिया है उकेर
....और कोकराझार

तब से झुलस रहा है, झुलस रहा है.....

(कोकराझार-असम में वह जगह है जहाँ कई बार
सामप्रदायिक दंगे और जातीय-संघर्ष हो चुके हैं)

संपर्क

एकता हाईट्स, ब्लॉक-2/11ई

राजा एस. सी. मल्लिक रोड, कोलकाता- 700032

मो. 9002025465

नई पहल, नया कदम

रश्मि राय
स्नातक द्वितीय वर्ष, हिन्दी सम्मान
श्री शिक्षायतन कॉलेज, कोलकाता

डर

कभी मैंने सुना था कि
अजीब होते हैं लड़कियों के सुख-दुःख
तमन्नाओं से लदी उम्मीदें
हिलोरती हैं उन्हें
अजीब तरह से
और जीत भी जाती हैं वे अपने मकसद में
मुश्किलों के रोड़े तोड़ नहीं पाते उन्हें
खुद ब खुद धूल हो जाते हैं
पर ऐसे भी होते हैं
कई मुकाम
जहाँ वह जीतकर हार जाना चाहती है
क्योंकि उनके जीत-हार के पैमाने
अलग होते हैं
कुछ चुनौतियों के सामने वे चट्टान होती हैं
तो कुछ मुद्दे उन्हें फूल से नरम कर देते हैं,
क्योंकि उनकी दृढ़ता और नम्रता के मायने
अलग होते हैं-

पर,
इन्हीं दिनों मैंने जाना कि
लड़कियों के डर भी अजीब होते हैं
कभी भीड़ का डर तो कभी सूने रास्तों का डर
कभी अस्मत् लुटने का डर
कभी अकेली रातों का डर
कभी अचानक आने वाली बरसातों का डर
कभी आसमान छूने की ख्वाहिश में
तीर से चुभते तानों का डर
स्वयं के द्वारा लिये गये निर्णय का डर
दुनियाँ द्वारा पक्षपातपूर्ण विश्लेषण का डर
और इस तरह
वे सदैव डरती हैं
जब तक उसे नहीं
मिल जाता पुरुष का साथ
हाँ, यह वही पुरुष है,
जिससे वे सबसे ज्यादा
डरती हैं....!

संपर्क : 08961081462

तुलसी की ताड़ना

डॉ. नीरजा माधव

वर्तमान में विश्व के कई देश भारतीय श्रम-सीकरों से उर्वर हो शस्य श्यामल हो रहे हैं। कहा जाता है कि मारीशस, फीजी, सूरीनाम आदि देशों के लिए जब भारतीय श्रमिक यहाँ से ले जाए जा रहे थे तो वे अपने साथ गंगाजल और रामचरितमानस का गुटखा ले गये थे। वही मानस और गंगा जल उनकी संस्कृति की सुरक्षा का पाथेय भी बना। मानस के रचयिता तुलसीदास जी ने अपने नाम से कोई पीठ, पंथ या सम्प्रदाय भी नहीं चलाया जिसका कोई उत्तराधिकारी बनता। लेकिन मानस के माध्यम से हर भारतीय मन तुलसी का उत्तराधिकारी मानने में अपने को धन्य समझता है। आज स्थिति यह है कि हर आस्तिक के घर में वेद पुराण के ग्रंथ मिले न मिले लेकिन रामचरितमानस की एक प्रति अवश्य मिल जायेगी।

अभी कुछ दिनों पहले एक वरिष्ठ वामपन्थी विचारक ने अखबार में सूचना दी कि वे आजकल तुलसी को पढ़ रहे हैं। खबर चौंकाने वाली थी। शायद, तभी प्रमुखता से छपी। अन्यथा न जाने कितने लोग रोज तुलसी को पढ़ रहे हैं, अखबार को उन आकड़ों से क्या लेना? विश्वविद्यालयी साहित्यिक आयोजनों में कृति के पुनर्पाठ का फैशन आज का अद्यतन फैशन बन रहा है। गोदान का पुनर्पाठ, जूही की कली का पुनर्पाठ, और भी न जाने किस-किस का? मेरे मन में एक प्रश्न कौंधा— जो सुपठित है, स्पष्ट है, उसका पुनर्पाठ क्या करना? जिनके बारे में भ्रांतियाँ हैं, या फैलायी जा रही हैं, पुनर्पाठ तो उनका होना चाहिए। पुनर्पाठ तो घटते जीवन मूल्य का होना चाहिए। मनुष्यता का होना चाहिए, जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर सिर कलम करने और ईनाम घोषित करने की वीरता का प्रदर्शन होने लगा है। नेतृत्व दाँ-बाँ देखता है, बौद्धिकता सिर खुजाते हुए बारीकी से टिप्पणी करती है ताकि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। दीदी खुश, दादा खुश।

ऐसे पुनर्पाठ के जमाने में अकस्मात तुलसी की ताड़ना याद आई—

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।

सकल ताड़ना के अधिकारी।।

याद भी कैसे न आती ये पंक्तियाँ। तुलसी जयंती के अवसर पर पंचगंगा श्री विहारम् में आयोजित साहित्य गोष्ठी में इन पंक्तियों की प्रचलित व्याख्या करते हुए संचालक महोदय ने मुझे एक स्त्री रचनाकार होने के नाते स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में इन पंक्तियों को व्याख्यायित करने को कहा। पता नहीं व्याख्या के उपरान्त उन पर उल्टा असर पड़ा या सीधा, इसका आभास तो मुझे नहीं हो सका लेकिन पूज्यपाद स्वामी जी को व्याख्या जँची थी।

संयोग की बात है कि मेरे पति डॉ. माधव अवध क्षेत्र के हैं। घर में अवधी का प्रयोग बहुधा होता है। अक्सर घर के बाहर जाते समय माँ या पिताजी हमें सहेजते- 'बाल बच्चन को ताड़त रहियो'। अपने पितृ क्षेत्र में भी लोगों के मन की बात 'ताड़ लेने' वालों को देखा और सुना है। उसी पूर्वाचल के नामचीन साहित्यकार तुलसी की ताड़ना की अनर्थकारी व्याख्या करने वालों का इरादा क्यों नहीं ताड़ सके, आश्चर्य होता। तुलसी का पुनर्पाठ इसलिए आवश्यक है कि उनकी पंक्तियों को उन के द्वारा रचित पात्रों के मनोभावों के सन्दर्भ में देखा जाय न कि तुलसी की स्वयं की दृष्टि के रूप में। प्रथमतः हमें देखना यह है कि कोई भी बात किस मुख से निकली है और उस पात्र की सामाजिक, मानसिक बुनावट कैसी है? रावण भी यदि राम की तरह मर्यादित संवाद बोलने लगता, आचरण राम जैसा ही हो जाता तो फिर सीता हरण जैसी या फिर मानस की रचना का ही क्या औचित्य था? सब राम राज्य होता। पात्रों के मुख से लेखक स्वयं बोलता है, यह सच होते हुए भी वह देश काल परिस्थिति का वक्तव्य होता है, लेखक का निजत्व नहीं।

ताड़ना का दूसरा बिन्दु उसके अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित करने वालों को लेकर आता है। हमारे देश की एक प्रचलित कहानी है- 'कोस कोस पर पानी बदले, पाँच कोस पर बानी।' यानी थोड़ी दूरी के अन्तराल से ही शब्द के अर्थ अपना स्वरूप बदल देते हैं। इसलिए अवध क्षेत्र से ताड़ना (देखभाल) जौनपुर और काशी आते-आते ताड़ लेना (समझ लेना) हो गया, तो आश्चर्य नहीं। आश्चर्य उन पर भी नहीं है जिनके पास पहुँचते-पहुँचते ताड़ना प्रताड़ना बन जाती है और दुर्योग से वे तुलसी को स्त्री-विरोधी या दलित विरोधी बना बैठे हैं। लेकिन नाना प्रकार के अपने विरोधियों और असन्तों की भी वंदना करने वाले तुलसीदासजी ढोल, गँवार और पशु को भी विरोधी बना लेंगे, यह बात गले से नीचे नहीं उतरती।

ढोल एक ऐसा वाद्य-यंत्र है जिसकी डोरी यदि खिंची रह जाय और उसे शिथिल न किया जाय तो उसकी गुणवत्ता खराब हो जाती है। इसी को ढोल उतरना कहते हैं। ढोलवादक यत्नपूर्वक अपनी ढोल को कपड़े में

लपेटकर और उसकी डोरी ढीली करके खूँटी पर टाँगते हैं। यह ढोल की देखभाल का तरीका है। गँवार शब्द नागर का विपरीत अर्थ देने वाला है। नगर में रहने वाले को चतुर सुजान माना जाता है वहीं गाँव में रहने वाला व्यक्ति सीधा-सीधा निष्कपट माना जाता है। इसलिए गँवार का अर्थ मूर्ख कतई नहीं है। ऐसे छल कपट से रहित निश्छल मनुष्य की भी देखभाल की विशेष आवश्यकता होती है ताकि किसी प्रकार के धोखे का शिकार न बन जाय वह। वह भी तुलसी के उसी ताड़ना का अधिकारी है जिसका कि एक अबोला पशु। पशु की निगरानी न की जाय तो न जाने कब किसकी खड़ी फसल नुकसान कर दे और एवज में से फसल के स्वामी द्वारा डण्डे खाने पड़ जाएं। शूद्र और स्त्रियाँ समाज द्वारा रक्षणीय हैं। इनकी विशेष सुरक्षा और भावनात्मक देखभाल अपेक्षित है। इसलिए ये दोनों भी तुलसी की ताड़ना के अधिकारी हैं। ताड़ना को प्रताड़ना के अर्थ में प्रस्तुत करते हुए ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी के बीच से विभाजन-प्रिय लोगों ने शूद्र शब्द के सन्दर्भ में इन पंक्तियों को जितना उछाला उतना अन्य किसी के नहीं।

स्वयं स्त्रियों ने भी इस पर इतना हो-हल्ला नहीं मचाया जबकि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही स्त्रियाँ अपने अधिकारों और अस्मिता के लिए संघर्षशील हो उठी थीं। इसके पीछे उनकी सहिष्णुता से अधिक मेधा शक्ति मानती हूँ मैं। इन शब्दों के अर्थ गाम्भीर्य का बोध रहा होगा उन्हें। दूसरी तरफ एक नेताजी ने पूज्यपाद आदि शंकराचार्य के परावतार द्वारकापीठाधीश्वर स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज से इस सन्दर्भ में भेंट की और इस चौपाई को मानस से निकाल देने का आग्रह किया। उन्हीं की तर्ज पर एक संस्था ने भी गीता प्रेस से आग्रह किया कि इन पंक्तियों को अगले संस्करण से सम्पादित कर हटा दिया जाय। पूज्यपाद स्वामी जी ने और गीता प्रेस ने भी इस सम्बन्ध में अपनी कोई सहमति नहीं दी। व्याख्या करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। एक साहित्यिक गोष्ठी में वयोवृद्ध अध्यक्ष महोदय का परिचय देते हुए एक कवि ने कहा- ये हैं आज के अध्यक्ष, हमारे अग्रज, हमारे श्रद्धेय पूर्वज अमुक सिंह। उन्होंने

आगे कार्यक्रम की भूमिका बताते हुए जोड़ा-सुनते आए हैं कि मनुष्य बन्दरों की सन्तान है। अध्यक्ष महोदय भड़क उठे थे- 'तुमने मुझे बन्दर कहा?' सभा में एक ठहाका उठा। कवि ने विनम्रता से हाथ जोड़ लिए-नहीं गुरुवर, मैंने नहीं आपने ऐसी व्याख्या की। मैंने तो आपको अपना आदरणीय बनाया। अपना पूर्वज बताया।

इस प्रकार की व्याख्या करके वितण्डावाद को जन्म देने की प्रथा भी हमारे यहाँ पछुआ हवा के साथ आई है। इस वितण्डावाद के शिकार प्राचीन से लेकर अर्वाचीन कई कवि और लेखक हुए लेकिन सबसे अधिक प्रभावित या दुष्प्रचारित हुए तुलसीदासजी। न जाने कितने आरोप प्रत्यारोप लगे उन पर, व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक और साहित्यिक जीवन तक। रात के अंधेरे में शव को पकड़कर उफनती नदी पार करने से लेकर साँप को रस्सी समझ, लटककर छत पर जाने और अपनी प्रिय पत्नी से फटकार सुनने तक कोई था जो भूत की तरह उनके साथ लगा था और जिसकी भनक तक उन्हें नहीं लग पाई थी अन्यथा उनकी पहली रचना होती- 'भूत पिशाच निकट नहीं आवें, महावीर जब नाम सुनावें।' उसी भूत ने आकर तत्कालीन कुछ गरब गरुआए गुरुओं को सारी कथा सुनाई और गुरुओं ने तुलसी बाबा का जीवन-वृत्त अपने चश्मे को ठोक बजाकर लिख डाला उन्होंने ही मानस के कई-कई दोहों चौपाइयों का अपने भीतर डूबकर ऐसा अर्थ निकाला कि वे अनर्थ होकर सतह पर तैरने लगे। स्वयं को नल नील जैसा कुशल कालजयी शब्द इन्जीनियर समझ लिया इन गुरुओं ने और जय आमि के नारे के साथ अपनी पीठ थपकने लगे। कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर तुलसी को दलित विरोधी, स्त्री विरोधी घोषित करने लगे और इस प्रकार राम भी अलग-अलग हो गये। तुलसी के राम सवर्णों के राम हो गये और कबीर के राम अवर्णों के राम हो गये।

क्षोभ होता है पंक में धँसे लोगों की इस पंकिल होली पर। रामचरिमानस अवधी भाषा में लिखा गया महाकाव्य है। एक ऐसी भाषा जो पूरे प्रान्त की भी भाषा नहीं। लेकिन उस भाषा में रचित ग्रंथ प्रान्तीय सीमा लाँघता है, राष्ट्रीय सीमा भी लाँघकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में

देदीप्यमान हो उठता है। विश्व की अनेक भाषाओं में रामचरित मानस का अनुवाद और अनुकथन हो रहा है। ऐसे में हम सतही बातें कर दलदल में पुनः सिर गोद लें यह साहित्य जगत के लिए शर्मनाक है। कभी-कभी मन में एक प्रश्न उमड़ता-घुमड़ता है- शूद्र कौन है? उस एस.डी.एम. को शूद्र मानूँ जो कार्यालय से अवसर पाते ही बाबा विश्वनाथ के दरबार में उपस्थिति लगाता है और रक्षासूत्र से आवेष्टित हाथों से रुद्राभिषेक सम्पन्न करवाता है अथवा शूद्र अपने उस सवर्ण ड्राइवर को मानूँ जो भक्ष्याभक्ष्य भक्षी है और शाम होते ही जिह्वा ऐसी लड़खड़ाती है कि अपना नाम भी ले सकने में असमर्थ हो जाता है। इन दोनों में पहला सरकारी व्यवस्था में आरक्षित है, दूसरा अनारक्षित है। वेद कहते हैं- जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारा द्विजोच्चते। अर्थात् जन्म से सभी शूद्र होते हैं, कर्म से द्विजत्व प्राप्त करते हैं। बच्चा जन्म लेते ही यह नहीं जान पाता कि उसे नित्य क्रिया कब, कहाँ, कैसे करनी है? वह वस्त्रों में सुसज्जित शालीन नागरिक है अथवा सू सू कर देने के बाद माँ द्वारा प्राकृतिक अवस्था में कर दिया गया है। बच्चे के भीतर धीरे-धीरे ज्ञान होता है, संस्कार और परिमार्जन किया जाता है। जो संस्कारित और परिमार्जित हो जाता है, ज्ञान की ओर उन्मुख भी हो जाता है उस मानव को द्विज वर्ग की संज्ञा दी गई। यानी आत्म ज्ञान को पाते जाना द्विजत्व को पाते जाना है। कहीं भी इसका अतिक्रमण प्राचीन काल से हम नहीं देखते। विभिन्न वर्ण आज की तरह की जातियाँ रही होती तो दशरथ भी सिंह होते, वशिष्ठ जी पाण्डेय या मिसिर और परशुराम, विश्वामित्र जी भी कुछ होते। वाल्मीकि, विदुर और व्यास के नामों के आगे भी कुछ जरूर लगा होता लेकिन ज्ञान प्राप्ति के लिए जन्म-कुल का कोई विशेष तात्पर्य नहीं था उस काल खण्ड में। जातीय संकुचन बहुत बाद के काल या ईस्वी सन् के साथ माना जा सकता है। उसके बाद का कुल दो हजार वर्षों का पूरा इतिहास भूगोल तो हमारी पाठ्य पुस्तकों से लेकर मन-मस्तिष्क में अंकित है। लगभग दो सौ वर्षों के फूट डालो और राज्य करो की अंग्रेजों की नीति आज किसी घनी लता की तरह ऐसी फैल गई है कि उसने बरगदी संस्कृति के मूल

और तने को आच्छादित कर लिया है। दूर से देखने पर यह बरगद कुछ अजूबा सा प्रतीत होता है। जड़ों से लिपटी दूसरे ढंग की पत्तियाँ और फूल, लेकिन ऊपर जाकर हरियाया बरगद।

इसलिए तुलसी बाबा बरगद की तरह एक चरित्र उठाते हैं जिसकी जटाएँ धरती का स्पर्श करते ही मूल बन जाती हैं और ऊर्ध्वमुखी हो कर हमारा असीम से नाता भी जोड़ती हैं। राम का चरित्र ऐसा ही बरगदी चरित्र है जो कभी समाप्त नहीं होता। उसकी शाखाएँ दर शाखाएँ वृक्ष बनती जाती हैं, मूल बनती जाती हैं। इसलिए राम कभी अतीत नहीं होते। वे सतत हैं। इतिहास के किसी कालखण्ड की घटना नहीं हैं राम, बल्कि लगातार घटित होने वाले साक्षात्कार हैं। यही कारण था कि तुलसी ने रावण को भी रामचरितमानस में खलनायक या प्रतिनायक की तरह प्रयुक्त नहीं किया है। रावण मनुष्य के भीतरी स्वभाव का दूसरा पक्ष है जो जानता है कि सीधे रास्ते से उसे राम नहीं मिलेंगे। वह सीता का हरण करता है, राम को युद्ध के लिए उकसाता है और इस प्रकार लंका में उथल पुथल का कारण बनता है। राम सामंजस्यवादी हैं, रावण उथल-पुथलवादी। ये दोनों वाद आज भी विराजमान हैं हमारी धरती पर। राम नाता जोड़ने में विश्वास रखते हैं। आत्मीयता उनकी थाती है। निषाद से अपनी आत्मीयता बाँटते हैं, प्रतीक्षारत शबरी से आत्मीयता बाँटते हैं। जटायु, बन्दरों, भालुओं, पत्थरों की शिलाओं तक से राम का नाता हम महसूस करते हैं। सीता हरण के बाद तुरंत रावण के ऊपर आक्रमण नहीं कर देते बल्कि उसे भी सन्देश भेजकर सही रास्ते पर ले आने का प्रयास करते हैं। राम की यही आत्मीयता है जो तुलसी को बाँधती है। वे राम के दास बनकर ही सर्वस्व पा लेते हैं। एक ऐसे

कालखण्ड में तुलसी का आविर्भाव होता है जब भारत की सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ विषम थीं। सनातनी धर्म के बाह्याचारों पर जमकर प्रहार हो रहे थे। विरोधी शक्तियाँ प्रभावी थीं। ऐसे में तुलसीदासजी अपने रामचरितमानस और अन्य साहित्य के माध्यम से अभेद्य सांस्कृतिक दुर्ग का निर्माण करते हैं। ऐसे में कूटनीतिज्ञ, योद्धा, सतत् संघर्षशील, शत्रुओं का बाल्यकाल से ही विनाश करने वाले कृष्ण जैसे महानायक का चुनाव भी तुलसीदासजी कर सकते थे जो भारतीय मन को अरिमर्दन की प्रेरणा देता। हमारे सम्पूर्ण इतिहास के दो महानायक राम और कृष्ण ऐसे अद्भुत महासागर हैं जिनमें अनेक नदियाँ जाकर अपना निजत्व खोकर सागर बन जाती हैं। लेकिन इन दोनों चरित्रों की अपनी दो अद्भुत विशेषताएँ भी हैं। कृष्ण जहाँ भी जाते हैं वहाँ नाता तो जोड़ते हैं लेकिन बड़ी निदुराई से तोड़ते भी चलते हैं। प्रारंभ माँ देवकी से हुआ तो अपूर्व प्रेम की स्वामिनी राधा से भी निदुर होने में देर नहीं लगी। कारण कर्तव्य-पालन और सामाजिक, नैतिक दायित्व। दूसरी तरफ राम कर्तव्य पालन भी करते हैं और सम्बन्धों का यथोचित निर्वाह भी। इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह और मनुष्य से मनुष्य के नाते के कारण तुलसीदास राम के भक्त हैं, दास हैं और इसलिए वे उनके चरित्र का चुनाव करते हैं। अपने समय और आने वाले समय का दिशा-निर्देश देने के लिए। आत्मीयता का सन्देश देने के लिए। आत्मीयता किसी विशेष कालखण्ड की घटना या विशेषता नहीं है। वह सतत् है, लगातार घटित होने वाली प्रक्रिया है, इसलिए राम भी इतिहास के किसी कालखण्ड की घटना नहीं अपितु सतत् प्रवाहमान एक सत्य हैं, मानव मन का निजत्व हैं इसलिए हमारे हैं, हम हैं, अहम् नहीं।

‘मधुवन’

सा. 14/598, सारनाथ, वाराणसी-221007

मो. 9792411451

रूपवादी कसौटी की निरर्थकता

श्रीकांत पाण्डेय

शोध-छात्र

म. गां. अन्तर्राष्ट्रीय

हिंदी विश्वविद्यालय, वड्ढा

तहलका, १५ सितम्बर, २०१२ के अंक में नंदकिशोर नवल का एक साक्षात्कार प्रकाशित है। इसकी पृष्ठभूमि में नवल जी की ज्ञानपीठ से प्रकाशित पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास' है। साक्षात्कार के पहले प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं, 'आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास पर कोई किताब नहीं थी। और फिर साहित्य में कांसेप्ट बदला है। पहले जो किताबें थीं वे कालखंड पर लिखी गई थीं जबकि कालखंड में साहित्य को नहीं बांधा जा सकता...काल विभाजन के बजाय कवियों का गुप बनाकर अध्ययन करना बेहतर है। और फिर कविता की एक कसौटी भी तो तय कर ली गई थी। अब कोई एक मानक कसौटी कैसे हो सकती है।' इस उद्धरण में ऐसा आभास होता है कि इतिहासकार ने इतिहास लेखन की एक नई मुद्रा अख्तियार की है। परन्तु उक्त पुस्तक में इतिहास के लक्षण कम और टीका के लक्षण अधिक हैं। पुस्तक के आरम्भ में ही आचार्य शुक्ल का चित्तवृत्ति वाला प्रसिद्ध कथन उद्धृत किया गया है। किन्तु पूरी पुस्तक में उस द्वंद्वात्मकता का अभाव है जो आचार्य शुक्ल के कथन में निहित है। साहित्य का इतिहास रचना की व्याख्या और उसके समानांतर तत्कालीन घटनाक्रम का प्रस्तुतीकरण नहीं है। पुस्तक के पहले अध्याय की पहली पंक्ति में ही यह धारणा प्रस्तुत की गई है कि 'इतिहास की गति रैखिक ही नहीं, बल्कि उसके साथ-साथ चक्रीय भी होती है।' 'प्राचीन विश्व और मध्ययुग में काल के चक्रीय, आवर्ती प्रवाह की धारणा प्रचलित थी। यह एक जबरदस्त समान्यीकरण था। और है... अतीत यहाँ गौरवशाली होगा और वर्तमान एक पतित अवस्था।' (हिन्दी कलम, जुलाई-सितम्बर १९९४, पृ. २५९) यही कारण है कि नवल जी का इतिहास ग्रंथ धूमिल तक आकर समाप्त हो जाता है और उन्हें धूमिल के बाद के सारे कवियों का रचनात्मक व्यक्तित्व अपूर्ण दिखाई देता है। धूमिल की मृत्यु १९७५ में हुई। १९७५ के बाद के दौर को गोरख पांडे एक नए किस्म का 'दूसरा दौर' मानते हैं। यह नक्सलबाड़ी की प्रेरणा से उपजा दौर है। जिसकी प्रतिरोधधर्मिता पहले के प्रगतिशील आंदोलनों की तुलना में कहीं अधिक थी। नवल जी पूरे साक्षात्कार में नकारवादी और अंतवादी विचार पद्धति के शिकार हैं। यही वजह है कि वे विजेंद्र को कवि मानने से ही इंकार कर देते हैं और यह तर्क देते हैं कि 'विजेंद्र को मैं कवि नहीं मानता, उनकी कविताओं में मार्क्सवादी विचारधारा हावी रहती है।' नवल जी को शायद याद होगा कि उन्होंने एक किताब लिखी है— 'निराला : कृति से साक्षात्कार।' इसके दूसरे खण्ड में निराला की रचना 'बेला संग्रह के कुछ ऐसे गीतों और गजलों को ध्यान में लाना जरूरी' समझा गया है, 'जो असंदिग्ध रूप से निराला की 'प्रगतिशीलता' का पता देती हैं।' इन कविताओं में 'मार्क्सवाद अपने समाज और उसके इतिहास की जो नई समझ लाया था, उसकी अनेक बातें (नवल जी को) सकारात्मक लगती थीं। इस दौर में उन्होंने (निराला ने) उन्हीं (मार्क्सवादी) का प्रभाव लेकर कुछ कविताएँ लिखीं, जो काव्यत्व की दृष्टि से भी एक नएपन से युक्त होने के कारण

यहां विचारणीय हैं।' (पृ. २३३) 'संदेश' शीर्षक कविता पर नवल जी को गौर करने पर पता चला कि 'निराला ने इन तीन बंदों में तीन बातें कहीं हैं और तीनों बातों में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को अहम् माना गया है।' (पृ. २३६) इस कविता को लेकर नवल जी का दुःख है कि 'यह कविता निराला की विचारधारा का परिचय देने के क्रम में हिंदी आलोचना में बार-बार उद्धृत हुई है' परन्तु इसमें निहित गीतात्मक लय की तरफ ध्यान नहीं दिया गया है। जबकि 'असलियत यह है कि कविता एक ऐसी गीतात्मक लय में रची गई है, जो कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति निराला की गहरी ममता और प्यार की सूचना देती है... और पाठकों को बहुत प्रभावशाली ढंग से अपनी गिरफ्त में ले लेती है।' (पृ. २३७) नवल जी ने निराला की कविता की जो उपरोक्त समीक्षा की है उससे यह स्पष्ट है कि उक्त कविता पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव है, जिसमें मार्क्सवादी विचारधारा तो क्या सीधे-सीधे 'पार्टी' तक की अहम् भूमिका को स्वीकार किया गया है। अब वही नवल जी विजेंद्र पर मार्क्सवादी विचारधारा के 'हावी' होने का आरोप लगा रहे हैं। विजेंद्र ही नहीं शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध आदि पर भी वे ऐसा ही आरोप लगा रहे हैं। साक्षात्कार में उनका कहना है, 'रचनाएं कसौटी की मांग खुद करने लगती हैं।' जबकि यहाँ नवल जी कसौटी को थोपने में लगे हैं क्योंकि कसौटी का 'एक मात्र आधार' रचना को ही मान लेना अतिवाद है। यहां नवल जी के कथन से यह ध्वनित होता है रचना आधार है, कसौटी अधिरचना मात्र है और कसौटी का कोई प्रभाव रचना पर नहीं पड़ता है। यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि कसौटी की निर्मिति के कतिपय भौतिक आधार होते हैं जो किसी समय विशेष के उत्पादन संबंधों में निहित होते हैं। प्राचीन ग्रीक समाज में जब दास प्रथा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई तो वहाँ का दार्शनिक चिंतन अमूर्त आध्यात्मवादी हो गया क्योंकि चिंतक वर्ग श्रम से पूरी तरह कट गया। कारण, श्रम का दायित्व दासों के जिम्मे डाल दिया गया था। जिसका परिणाम जमीनी सच्चाई को दरकिनार करती हुई अमूर्त नैतिकता-आध्यात्मिकता की कसौटी में हुआ। रचना और कसौटी की इस द्वंद्वत्मकता को नकार देना सरलीकरण की ओर उन्मुख होना है। इससे आलोचक की ईमानदारी संदेह के घेरे में आ जाती है।

तहलका के पूरे साक्षात्कार को पढ़ते समय

ऐसा प्रतीत होता है कि नवल जी को मार्क्सवाद से कोई चिढ़ है। पहली बात तो यह है, कोई भी चिढ़ किसी सार्थक आलोचना कर्म को जन्म नहीं दे सकती। दूसरी बात यह है, जब विचारधारा और रचना के सम्बन्ध तथा कलात्मकता का प्रश्न साहित्य जगत में उठता है, तब नवल जी समेत अनेक आलोचक 'विचारधारा' शब्द का प्रयोग इस तरह से करते हैं मानो 'विचारधारा' सिर्फ मार्क्सवादियों की ही होती है और इस जन-मुक्तिकामी मार्क्सवादी विचार को अस्पृश्य करार दे दिया जाता है। ब्रेख्त ने वाल्टर बेंजामिन से एक बातचीत में कहा था कि विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष एक नई विचारधारा बन जाता है। (कृपया प्रारंभ में विजेंद्र और निराला के संबंध में नवल जी की बातों को ध्यान में रखें।) प्रत्येक रचना में कोई न कोई विचारधारा अवश्य होती है। वस्तुतः रचना में विचारधारा (याकि मार्क्सवादी) रहित होने की मांग करना और विचारधारा के संबंध की गलत समझ को स्थापित करना है। नवल जी संवेदना को कविता का सम्प्रेषणीय तत्त्व मानते हैं। उनका कहना है, 'कविता से ही संवेदना का पता चल जाना चाहिए। विचारों को संवेदना में परिवर्तित करना ही कविता है।' नवल जी ने यहां संवेदना को विचारों का परिवर्तित रूप माना है। क्या जब एक विचार संवेदना में परिवर्तित होता है तब जिस विचार विशेष से संवेदना विशेष पैदा होती है, उस विचार विशेष के गुणधर्म का पूर्णतया त्याग कर देती है? नवल जी ने 'संदेश' कविता की समीक्षा करते समय स्वयं इस बात को प्रकारांतर से स्वीकार कर लिया है। वास्तव में वे संवेदना और विचार का यह विरोधाभास इसलिए रचना चाह रहे हैं ताकि संवेदना का अमूर्तन किया जा सके। संवेदना जब संप्रेषित होती है तो उससे एक भावस्थिति ही नहीं अपितु विचार भी संप्रेषित होता है। स्वयं मार्क्स ने भी 'ह्यूमन मूवमेंट' को कला के संदर्भ में महत्वपूर्ण माना है। यह विचार जितना 'संवेदना' से जुड़ा है उतना ही 'विचारधारा' से भी। एडवर्ड अपवर्ड ने कहा है, 'यह मान लेना साहित्य कुछ भी प्रतिबिंबित नहीं करता या, युग के अनुसार, वह आदिम भावनाएं प्रतिबिंबित करता है जिनका पदार्थ जगत से अलग अपना अस्तित्व है। यह बात मान लेने के बराबर है कि मनुष्य बगैर अपने मस्तिष्क के ही सोच सकता है।' संदेश कविता 'कम्युनिस्ट' होते हुए भी 'गीतात्मक लय' और 'प्रेम' से भरपूर है तथा

‘प्रभावशाली’ भी है। फिर मानना पड़ेगा, या तो खोट निराला की कविता में है या नवल जी की (बार-बार) बदलती कसौटी में। दरअसल जब नवल जी विचार और संवेदना का प्रश्न उठा रहे हैं तब इसकी पृष्ठभूमि में यह विचार हावी है कि ‘मार्क्सवादी साहित्यिक मूल्य को एक बुर्जुआ ढकोसला मानते हैं।’ हकीकत यह है कि ‘साहित्यिक मूल्य’ को इस तरह नहीं समझा जाना चाहिए। चूंकि कविता अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी समाज से जुड़ी हुई होती है, इसलिए स्वभावतः वह सामाजिक गतिविधियों में प्रभावित होती है। (नन्दकिशोर नवल, कविता की मुक्ति, पृ. ३०) अतः हम जिस साहित्यिक मूल्य की बात करते हैं वह इसी समाजिकता की मांग है। माओ के हवाले से कहा जाये तो ‘वे कला कृतियां जिनमें कलात्मक प्रतिभा का अभाव होता है बिल्कुल शक्तिहीन होती हैं। चाहे वे राजनीतिक दृष्टि से कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हों। इसलिए हम ऐसी कलाकृतियों के सृजन का जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण गलत होता है तथा पोस्टरबाजी व नारेबाजी जैसी शैली उन कलाकृतियों के सृजन का जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण तो सही होता है, लेकिन जिनमें कलात्मकता का अभाव होता है, दोनों ही प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं।’ मार्क्स ने अपनी युवा अवस्था की कुछ कविताओं को जला दिया था क्योंकि वे गलतश्रु भावुकता से भरी हुई थीं। इसलिए साहित्यिक मूल्य से यह आशय कदापि नहीं होना चाहिए कि कविता हवाई सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति करे। क्योंकि ‘शुद्धकलावाद जैसी कोई चीज नहीं हो सकती। यदि उसके बाद भी कलावाद का प्रश्न उठाया जाता है तो इसका मतलब यह है कि साहित्य को समाज से अधिक काटकर उसके अपने ‘सौंदर्य-लोक’ तक सीमित कर दिया जाए। (नवल, वर्तमान साहित्य कविता विशेषांक, १९९२, पृ. ३२८)

‘रचना का पक्ष’ में नवल जी ने लिखा है कि ‘बिना कला के, बिना रूप के और बिना सौंदर्य के क्या

कला और साहित्य संभव है। निश्चय ही रूढ़िवादी मार्क्सवादी भी कला, रूप और सौंदर्य का महत्त्व स्वीकार करते हैं, लेकिन वे इनकी सत्ता सर्वोपरि मानने को तैयार नहीं होते।’ रूप को कला का केवल बाहरी आवरण मानने के विचार को टेरी इगल्टन ने भी भौंडा कहा है। किन्तु वे जिस बात पर बल देते हैं वह यह है कि ‘मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि में रूप व अंतर्वस्तु के द्वंद्वात्मक जुड़ाव को देखा जाता है। लेकिन अंततः इसमें रूप निर्धारण के लिए अंतर्वस्तु की प्रमुखता पर जोर दिया जाता है।’ जबकि ऊपर उद्धृत नवल जी के कथन में सौंदर्य की सर्वोपरिता पर जोर और उसके प्रति आग्रह स्पष्ट है। हकीकत यह है कि द्वंद्वात्मक दृष्टि ‘सर्वोपरिता’ के इस आग्रह को खारिज करती है। वैसे भी रूप और वस्तु के बीच संशय उस प्रतिक्रियावाद की उपज है जो निम्न पूंजीवादी वर्ग की विशेषता है। गोरख पांडे इस निम्न पूंजीवादी दृष्टि के बारे में कहते हैं, ‘यह शासक वर्ग और जनता की दृष्टियों के बीच रास्ता बनाने की कोशिश करती है। यह प्रवृत्ति जनवादी कविता के भीतर से काम कर रही है और कविता के प्रयोगवाद और नयी कविता वाले ढांचे में हेर-फेर करके कविता बनाने की मांग करती है। यह जन-जीवन के प्रति निष्क्रिय सहानुभूति और यथार्थ के प्रति अपेक्षाकृत अमूर्त रूप अपनाती है।’ हकीकत यही है कि प्रच्छन्न रूपवादी विचार-सरणि सदैव साहित्य के सामाजिक यथार्थवादी मूल्य को यह कह कर खारिज करती रही है कि इससे कलात्मक मूल्यों का ह्रास होता है। प्रसिद्ध जर्मन कवि मारिया रिल्के, जो मार्क्सवादी नहीं था, कला को एक युद्ध की तरह मानता था। जहाँ कुछ चुनिन्दा लोगों को अपने और अपने परिवेश के विरुद्ध लड़ना है, ताकि वे शुद्ध मन से अपने उच्चतम उद्देश्य तक पहुँच सकें। यह प्रतिरोध का अपना सौन्दर्यशास्त्र है। यह अंधेरे में गाये जाने वाले गीत की तरह है, जो अंधेरे के खिलाफ है।

मो. 09451868121

ईमेल : ranjanpandey1112@gmail.com

आज की स्त्री का घोषणापत्र

विजेता साव

रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय

कोलकाता

थोड़ा अजीब सा है यह शीर्षक 'आज की स्त्री का घोषणापत्र'। स्पष्ट है कि इसमें स्त्री तो है परन्तु 'आज की स्त्री, जिसकी आँखों में आँसू तो है परन्तु उसने उस आँसू को अपने गालों पर सुखाकर धब्बे नहीं पड़ने दिये बल्कि आँसुओं को पोछ कर होंठों पर मुस्कान सजाना सीख रही है। जिसने समझ लिया है कि आज तक उसका शोषण सतत् इस कारण होता रहा क्योंकि वह ना तो मुक्ति के द्वार को खटखटाना जानती थी और ना ही द्वार पार क्या है उसे देखना या महसूस करना ही जानती थी, परन्तु परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य है। अतः नारी की स्थिति, उसकी विचारधारा, उसके भाव, उसकी संवेदना, उसकी इच्छायें, उसकी आकांक्षायें, उसका मान, उसके स्वप्न, उसका लक्ष्य सब कुछ परिवर्तित हो रहा है। आज की स्त्री स्वयं से साक्षात्कार कर रही है। अपनी अस्मिता के प्रति सजग है। उन षडयंत्रों और चक्रव्यूहों को भी भेदने के लिये स्वयं को सक्षम और निरन्तर तत्पर कर रही है, जिनके तहत उन्हें सदैव पराधीन करने और रखने की कोशिश की जाती रही है। कभी पत्नी, कभी माँ, कभी बहन तो कभी पुत्री के नाम पर उसे तरह-तरह के भावनात्मक एवं संवेदनात्मक संबंधों के जिम्मेदारी के नाम पर, 'देवी' जैसे बड़े-बड़े संबोधनों के नाम पर उसे त्याग, तपस्या, बलिदान, स्वयं को विसर्जित कर घर, परिवार, समाज, पति, पुत्र इत्यादि के निर्माण हेतु तरह-तरह के पाठ पढ़ाए गए। कभी सीता के नाम पर, कभी रत्नावली के नाम पर तो कभी यशोधरा के नाम पर स्त्री मन-विहंग के पंखों को उन्मुक्त जीवनाकाश में स्वच्छंद उड़ान भरने से रोक दिया गया। यद्यपि साहित्यिक ग्रंथों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ऋग्वैदिक काल (१५०० ई. पू. से १००० ई. पू.) में नारी याज्ञिक कर्मकांडों में पुरुष को सहयोग प्रदान करती थी और बालकों के सदृश बालिकाओं का भी 'उपनयन संस्कार' होता था। कुछ स्त्रियों को वैदिक मंत्रों की रचयिता भी कहा गया है, जिनमें लोमाशा, लोपामुद्रा, विश्वतारा, सिकिता, यमी, शची, श्रद्धा, सूर्या, इंद्रावाणी, श्रद्धा, अपाला, शाश्वती एवं गार्गी इत्यादि के नाम गिनाये जाते हैं परंतु यह सूची और आगे नहीं बढ़ती। 'मनुस्मृति' में भी स्त्री को झूठ के समान अशुभ माना गया है। और कहा गया है कि— "स्त्री को सदाचार से हीन, वासनापूर्ण आचरण से युक्त, गुणों से रहित पति की भी देवता के समान सेवा करनी चाहिए।"¹

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में भी एक स्थान पर लिखा गया है कि— ढोल, गंवार, शूद्र, पशु एवं नारी सभी दंड देने के योग्य हैं। कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' में भी नारी की स्वतंत्रता का विरोध किया गया है। कहा जा सकता है कि 'वैदिक युग' से ही नारी को कभी उसके कर्तव्यों के नाम पर, कभी उसके उत्तरदायित्वों के नाम पर, कभी आदर्शों के नाम पर तो कभी स्त्रियोचित् मर्यादा के नाम पर उसके अधिकारों का हनन किया गया, उसके मानसिक एवं आध्यात्मिक सत्ता का बहिष्कार किया गया। उसकी देह के साथ-साथ उसकी आत्मा को भी नृशंसता के साथ कुचला गया, परंतु आज का विज्ञान, शिक्षा एवं परिवर्तित वातावरण ने स्त्री चेतना को भी झकझोरा है। आज स्त्री अपनी इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के साथ समाज में, साहित्य में अपने कर्मक्षेत्र में उपस्थित है। हिन्दी साहित्य के समकालीन परिदृश्य में बेहद चर्चित कवि-कथाकार और स्त्री विमर्शकार अनामिका के शब्दों में कहें तो—

“लौट रही हूँ वापस...खुद में ही
जैसे कि अंशुमाली शाम तक
अपने झोल में वापस
रख लेता है अपनी किरणें वे बची खुची
कस लेता है खुद को ही
अपने झोले में,
मैं भी समेट रही हूँ खुद को
अपने झोले में ही!
अब निकलूंगी मैं भी
अपने संघान में अकेली!
आपका झोला हो आपको मुबारक!
अच्छा बाबा, राम-राम!”²

उपर्युक्त पंक्तियों में कही गई अनामिका की बात— ‘अब निकलूंगी मैं भी अपने संघान में अकेली’ वास्तव में आज की हर उस स्त्री के अन्तरमन का सच है, वह अपने आप से किया गया वादा है, वह जिद्द, वह हौसला, वह ताकत है जो इस पुरुष प्रधान समाज में बिना किसी पुरुष वट की छाया में जिंदा है, संघर्षरत है, पूर्ण विश्वास एवं आत्म आस्था से भरी है। ये उन स्त्रियों की आवाज है जो ‘स्त्री-अस्तित्व’ के प्रति ना सिर्फ सजग हैं

वरन् बिना किसी पुरुष सम्बल के भी पूर्णरूप से अडिग एवं अटल भाव से जीवन झंझावातों से गुजरते हुए भी खड़ी हैं! आज की स्त्री बदली है, स्त्री के भीतर एक माँ का रूप उभरा है जो अपनी बेटियों को अभिशाप नहीं समझती बल्कि नव-आस्था से भरकर पालती है! वह कहती है—

“कृपा नहीं, प्रेम का प्रसाद भी नहीं लेगी,
भामती की बेटियाँ
ग्रंथ अपने स्वयं रचेगी
लगातार
इसी तरह
हर युग में!”⁵

इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि आज जहां एक ओर साहित्य, समाज, राजनीति, कला मीडिया इत्यादि क्षेत्रों में अपने ‘होने’ की उपस्थिति को मनवा चुकी और मनवा रही स्त्रियाँ हैं वहीं आज भी घर के किसी कोने में, रास्ते के किसी मोड़ पर, जगमगाती रोशनी के पीछे किसी बंद अंधेरे कमरे में जिंदा होने की अनुभूति को अनुभूत करने की क्षमता एवं कोशिश में सिसक रही, बिलख रही वे औरतें भी हैं जिनकी पुकार, जिनकी आवाज अभी भी कहीं दबी है, कहीं कैद है जो मुक्ति के लिए छटपटा रही हैं, स्त्रीत्व की चेतना और अपने अधिकार की मांग कर रही हैं—

“एक दिन हमने कहा
हम भी इन्सान हैं
हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
सुनो हमें अनहद की तरह
और समझो जैसी समझी जाती है
नयी-नयी सीखी हुई भाषा!”⁴

‘इंसान’ के रूप में खुद को पढ़े जाने की उसकी आकांक्षा भी स्त्री-चेतना एवं स्वयं के प्रति उसकी सजगता का द्योतक है।

आज की स्त्री की सबसे बड़ी खासियत यह है कि उसे ‘स्त्री’ होने पर गर्व है। वह पूरी ईमानदारी के साथ अपने ‘औरत’ होने को ना सिर्फ स्वीकारती है बल्कि आत्मसंतोष एवं आत्मनिर्भरता से, आत्मविश्वास से भरकर

पुरुष-प्रधान समाज की पुरुषवादी शोषण वृत्ति एवं छल-छद्म, प्रपंच से भरी दुनियां में शामिल होने से, स्वयं को उसमें समाहित करने से तटस्थ एवं सशक्त शब्दों में इन्कार करती है! रंजना जायसवाल की 'मैं औरत हूँ' कविता इसी स्त्री गर्व को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है, वे कहती हैं—

“मैं औरत हूँ
नहीं हैं मेरे पास
दो चेहरे
दो मुंह, और दो तरह का जीवन
मैं जो हूँ-हूँ
जो नहीं हूँ-नहीं हूँ
मुझे अफसोस नहीं
कि मैं सीता-सावित्री के
सांचे में फिट नहीं बैठती
बस इतना काफी है
कि मैं मनुष्य हूँ
अपनी सारी कमजोरियों और खूबियों के
साथ
मैं जिसे प्रेम करती हूँ
पकड़ सकती हूँ चौराहे पर उसका हाथ
देह और मन तो क्या
त्याग सकती हूँ सब कुछ
अनचाहे के ऐश्वर्य से परहेज है मुझे।”⁵

यही है आज की स्त्री जो सीता, सावित्री या देवी बनकर नहीं सिर्फ और सिर्फ एक 'स्त्री' बनकर जीना चाहती है, चाहती है पूरी साहसिकता के साथ अपने हृदय में उमड़ते प्रेम-उदधि को किसी अपने प्रिय पर उड़ेलना, अपना सबकुछ समर्पित कर सकती है, स्वयं को भी प्रेम में विसर्जित कर सकती है परन्तु वह 'मनचाहा मीत' हो या किसी अनचाहे को वह स्वीकारना नहीं चाहती।

नारी-जीवन की त्रासदी का एक पक्ष वेश्यावृत्ति के रूप में भी सामने आता है। प्राचीन काल से ही यह प्रथा 'देवदासी' के रूप में हिंदू समाज में रही है।

“कालीदास ने उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में देवदासियों का वर्णन किया है।”⁶

प्रारम्भ से ही कभी देवदासी के रूप में कभी वेश्याओं के रूप में, कभी कॉलगर्ल तो कभी धर्म की आड़ में स्त्रियों का शोषण होता रहा है, आज स्वयं हो रहे शोषण मूल में वह 'देह' को ही मानती है तभी देह से परे मनुष्य के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करना चाहती है। रंजना जायसवाल के शब्दों में—

“तुम्हे माया नहीं
मनुष्य होना है स्त्री
देह से आजाद होना है
वह देह ही था
जिसके कारण बन्दिनी रही तुम”
आगे वह लिखती है—
“तुम्हें उबरना ही होगा
जादुई फूलों और राजकुमारों के
मोह से
और इस देह से!”⁷

आज की नारी सजग है, पुरुषों के हाथ का खिलौना बनने से इन्कार करती है। उसने समझ लिया है कि यौवन जीवन की तरह एक दिन ढल जाता है अतः युवावस्था के सौन्दर्य एवं मिथ्या आकर्षण के प्रति उसकी चेतना, उसकी बौद्धिकता, उसका आत्म-सम्मान आकर्षित नहीं होता। रूप, सौन्दर्य, यौवन एवं एक सेक्स मशीन से पृथक् अपने आन्तरिक नारीत्व को अब वह समझना, स्वीकारना और प्रतिष्ठित करना चाहती है तभी तो कहती है—

“क्यों चाहती हो दिमाग से नहीं देह से
पहचानी जाओ
नश्वर है यह उतान
जिसके कारण चल रही उतान
कब जानोगी कि तुम्हारे पहले भी थीं
रहेंगी भी उतान चलती लड़कियां
खिलौना बनती खिलौनों सी इस्तेमाल होती
नारीत्व के उपहार का कुछ तो रखो मान
मत चलो बहनों इस तरह उतान।”⁸

आज की बाजारवादी एवं उपभोक्तावादी संस्कृति में 'स्त्री की मुक्ति' एक दिवास्वप्न है और यदि

वह स्वप्न कभी साकार हुआ तो एकमात्र स्त्री जागरण से! यही कारण है कि आज की कवयित्री स्त्री-जागरण की बात करती है। स्त्री की सहनशीलता ही पुरुष को उस पर निरन्तर आघात करने की आजादी देता है। आज की कवयित्री डॉ. इन्दु सिंह इसी तथ्य को अपनी कविता 'खनक' में ना सिर्फ प्रकट करती हैं बल्कि स्त्री को स्वयं आगे बढ़कर अपने अधिकारों के लिए खड़े होने और लड़ने के लिए भी प्रेरित करती हैं-

“देखोगी कब तक दिवास्वप्न
देवी बनने से पहले
मानव बनकर जी लो
नहीं मिलती, भीख में यों आजादी
उठो! दृढ़ता से बढ़ो आगे
स्थापित करो निज अस्मिता
उन्मुक्त चूड़ियों की खन-खन
पायल की छम-छम
भर देगी
तुझमें
नव-चेतना, नव-ऊर्जा
फूँकेगी, नव प्राण कण-कण में।”⁹

कहा जा सकता है कि आज की स्त्री शोषण, बालात्कार, हिंसा, अपमान के धुंधुआते तम में भी अपनी आन्तरिक शक्ति, अपनी आन्तरिक, इच्छा, आकांक्षा एवं सपनों को पाने की ओर अग्रसर है। उसने अपनी चुप्पी

को तोड़ा है और मुखरित होकर कहती है-

“मैं
मुक्त
प्रगल्भ
निर्भय
पर असहाय
द्रौपदी की तरह
लेकिन
मुझे ही बनना होगा कृष्ण
खुद अपनी रक्षा के लिए।”¹⁰

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. मनुस्मृति 5/154
2. अनामिका, 'तुलसी का झोला'
3. अनामिका, 'भामती की बेटियाँ'
4. अनामिका, 'खुरदुरी हथेलियाँ', 2005, पृ. 13-14
5. रंजना जायसवाल, 'जब मैं स्त्री हूँ, मैं औरत हूँ' पृ. 32
6. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ. 466
7. रंजना जायसवाल, जब मैं स्त्री हूँ, माया नहीं मनुष्य, पृ. सं. 14
8. रंजना जायसवाल, 'जब मैं स्त्री हूँ, उतान चलती लड़कियों के लिए, पृ. 23
9. डॉ. इन्दु सिंह, मैं स्त्री, मैं स्त्री, पृ. 79
10. रंजना जायसवाल, बनना होगा कृष्ण, पृ. 104

संपर्क : 09038025043

हंगला पंडित

मूल : कातिन्द्र सोरगियारी

अनुवाद : किशोर कुमार जैन

...सेना के जवान चले गये।

घर के कपड़े-लत्ते जली हुई रजाई-बिस्तर आदि के बचे-खुचे टुकड़े, टेबल, खाने की मेज, सोफा-कुर्सी, पलंग, आलमारी, किताबें और घर के सामान जहां-तहां बिखरे पड़े थे। ऐसा लग रहा था मानो सन् १९९३ की ३० सितंबर को लातूर का जलजला हंगला के घर आ गया हो या फिर भयानक तूफानी हवा तांडव नृत्य करके चली गयी हो।

...‘उफ! आ! ...उफ! आ!’ कराहते हुए हंगला पंडित जब जमीन पर हाथों के सहारे धीरे-धीरे उठने की कोशिश कर रहे थे, उसी समय बहुत से लोगों के कदमों की आवाज सुनकर दहशत और शंका के मारे पुनः होश खो बैठे और वहीं आँगन में गिर पड़े।

...सिर पर ठंड का अहसास होने पर हंगला पंडित को पुनः होश आया। इधर-उधर नजर दौड़ाने की कोशिश करने पर उन्हें सुनाई दिया- ‘चिंता मत करो पंडित, हमलोग हैं न।’

चार महिलाएँ बरामदे में देलाइस्त्रि की देखभाल कर रही थीं। देलाइस्त्रि बिना हलचल किए चित्त होकर पड़ी हुई थी। इधर-उधर नजर दौड़ाने के बाद देलाइस्त्रि पर नजर पड़ते ही हंगला पंडित ने कहा- ‘क्या हुआ? क्या हुआ देलाइस्त्रि को?’ बोलने के साथ अचानक हंगला पंडित ने जैसे ही उठने की कोशिश की वैसे ही अपनी कमर और सीने पर असहनीय दर्द महसूस किया और पुनः होश खो बैठे।...पीसे हुए लहसुन और कड़वा तेल की मालिश किये जाने पर सिर पर धीरे-धीरे ठंडा पानी डालने के कुछ देर बाद हंगला पंडित और उसकी बेटी देलाइस्त्रि की चेतना लौट आई। लेकिन फिर भी डर और आतंक उनके मन से पूरी तरह दूर नहीं हुए थे। होश में आने के बाद हंगला पंडित को जिस तरह की वास्तविकता का सामना करना पड़ा- वैसी परिस्थिति के साथ समझौता करने की बजाय वे अगर मर जाते तो ज्यादा अच्छा रहता।

...सचमुच, कहां से क्या हुआ, ऐसी घटना क्यों कर और कैसे घट गयी- इन सारी बातों का निचोड़ हंगला पंडित पूरी तौर पर स्वस्थ होने के बाद ही जान पाये या फिर उन्हें अहसास हुआ।

पूरी बात जानने के बाद हंगला पंडित के मन में एक ही सवाल था- ‘कौए के घोंसले में कोयल का जन्म? नहीं-नहीं। वह तो ऐसा था जैसे गीदड़ के शरीर से शेर का जन्म। लेकिन, क्या वह ऐसा था? क्या वह शेर बन सकता है? बास्टर्ड कहीं का!’ मन में उमड़ रहा गुस्सा हंगला पंडित के हृदय पटल पर अंगारा बनकर सुलगने लगा।

कहानी कहते-कहते मुझे एक बात याद आयी। बात यह है कि पंडित तथा उसके परिवार की कुछ बातों से अवगत होना जरूरी है वरना कहानी अधूरी रह जाएगी। इसलिए पंडित

के अतीत की बातों के साथ-साथ उसके परिवार की कुछ बातें आपको बताना चाहूँगा।

हंगला पंडित का असली नाम है हरगोविंद। लेकिन सामथाइबाड़ी अंचल के आम लोग उसे हंगला पंडित के नाम से ही जानते-पहचानते हैं। पहले उसके पिता गांव के मुखिया थे। वह सामथाइबाड़ी क्षेत्र के सर्वप्रथम मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले तथा प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक के पद पर आसीन होने वाले गर्विले व्यक्ति थे। अगर कोई शिक्षक या मास्टर कहकर उसे बुलाता तो वह बुरा मान जाता, उसे बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता। हंगला के अनुसार वह खुद एक पंडित था। शिक्षक या मास्टर पाठशाला में पढ़ने वालों के लिए प्रमुख होता है। एक जानकार- समझदार आदमी के गहरे ज्ञान और किसी विषय के बारे में व्युत्पत्ति होना नहीं समझा जाता है। लेकिन 'पंडित' शब्द का मतलब है सब कुछ जानना- ये थी हंगला पंडित की बातें। इसलिए वह अपने आप को पंडित समझता है। शिक्षक या मास्टर नहीं। लेकिन हंगला पंडित अब अवकाश ले चुके हैं।

... मुखिया पिता के बनाये गये तीन के बड़े-बड़े मकान, अकूत धन-संपत्ति, जायदाद के मालिक थे हंगला पंडित। गाँव के सीधे-सादे, फटे-चीथड़े पहनने वाले गरीब-गुरबों से हंगला पंडित तिलमात्र भी तालमेल नहीं बैठा पाते। उन्हें पसंद भी नहीं था। सीधे-सादे, मूर्ख और फटे-चीथड़े कपड़े पहनने वाले लोगों को वे अछूत समझते थे। उनकी इस आदत की वजह से कोई कुत्ता भी उनके आँगन में पैर नहीं रखता था। अपने बेटे-बेटियों को भी उन्होंने प्राथमिक स्कूल से ही शहर के स्कूलों में डाल दिया ताकि गाँव के उन गरीब लोगों के बच्चों के साथ हिलमिलकर वे भी वैसे ही न बन जाएं। हंगला पंडित अपने गाँव के समाज से भी निकाले हुए व्यक्ति थे। तीन बेटे व एक बेटी ही हंगला परिवार के सदस्य थे। दो बेटे राम और अर्जुन के बाद एक बेटी देवयानी और उसके बाद एक बेटा नवज्योति।

...राम और अर्जुन स्नातक करने के बाद अपनी-अपनी पसंद की नौकरी कर शहर में ही रहने लगे। राम ने बंगाली लड़की और अर्जुन ने मुस्लिम संप्रदाय की लड़की के साथ शादी कर ली।... सामथाइबाड़ी अंचल की लड़कियों में देवयानी एक फैशनेबल लड़की थी। इसलिए इस अंचल के लोग देवयानी को 'देलाइखि' के

नाम से जानते व पहचानते थे। टाऊन में पढ़ने वाली देलाइखि ने मैट्रिक की परीक्षा देने के पहले ही बैंक के किसी बिहारी कर्मचारी के साथ शादी कर ली। शादी के बाद उस युवा कर्मचारी ने देलाइखि की गोद में एक लड़की देकर अपने राज्य बिहार में बदली करवा ली। वहां जाने के बाद ही देलाइखि को जानकारी मिली कि वह कर्मचारी अविवाहित नहीं था। वह एक बाल बच्चेदार आदमी था। ...रो-रोकर अपने नसीब को दोष देने के अलावा उसके पास और कोई चारा नहीं था। अतः मजबूर होकर अपनी बेटी लेकर वह अपने माता-पिता के पास सामथाइबाड़ी आकर रहने लगी।

लेकिन, हंगला पंडित के मन में एक ही बात थी 'शनि तथा बिहारी के मैल सदृश इस छोटी बेटी को मैं अपने घर नहीं रख सकूँगा।'

दूर के एक गाँव के निःसंतान दंपति को देलाइखि ने अपनी बेटी गोद दे दी। देलाइखि खुद भी बेटी को दूसरे के हाथों में सौंपकर अपने-आप को हलका महसूस करने लगी। हंगला पंडित ने सोचा : 'अभी भी माँ बनने लायक कमसिन उम्र की उसकी देवयानी को एक अच्छे लड़के से साथ शादी कर घर बसाने में कोई परेशानी नहीं होगी।'

हंगला पंडित के छोटे से परिवार में इस तरह की छोटी-मोटी घटनाएं घटने के दौरान ही पिछले वर्ष मामूली-सी बीमारी में अचानक उसकी पत्नी रुफाथी ने इस संसार से आजीवन विदा ले ली। रुफाथी के न रहने के कारण पंडित के परिवार में कई समस्याएँ खड़ी हो गयीं। फिर भी गृहस्थी को संभालने लायक थोड़ा-बहुत हाव-भाव जानने वाली देवयानी ने किसी तरह संभाल लिया, जिसकी वजह से पंडित ने राहत की सांस ली।

...छोटे बेटे नवज्योति को लेकर हंगला पंडित ने बहुत से रंगीन सपने देखे थे। राम और अर्जुन अपनी-अपनी शादी करके शहर में रहने के बाद सामथाइबाड़ी गाँव में अपने पैर की गंदगी भी डालने नहीं आए और हंगला पंडित के जीवन में घट रही छोटी-मोटी घटनाओं का हाल-चाल भी पूछने नहीं आए। इस बात को लेकर हंगला पंडित के मन में बहुत दुख था। फिर भी पिता की हर बात को ध्यान से सुननेवाला और उनके आदेश को वेदवाक्य की तरह मानने वाला नवज्योति जब अंग्रेजी में मेजर लेकर एम. ए. पढ़ने गया तब हंगला पंडित गाँव

वालों को सुना सुनाकर कहता, 'पंडित के घर पंडित नहीं तो क्या चूहा पैदा होगा? मेरा बेटा नवज्योति मुझसे भी बड़ा पंडित हो गया।'

...विश्वविद्यालय में पढ़ने जाने के तीन महीने बाद जब नवज्योति ने अपना नाम बदलकर इरागदेव के नाम से एफिडेविट बना ली तब इस बात की खबर लोगों को मिलने के बाद पंडित ने दांत पीसते हुए कहा, 'छिः-छिः नाम सुनते ही अछूत-अछूत-सा लगता है। आखिर क्या जरूरत थी इरागदेव-फिरागदेव नाम रखने की। भोला-भाला समझकर किसी बोड़ो युवक ने शायद उसे बरगला दिया है।

इसी तरह दिन, महीने और साल गुजर गये। पंडित जी काफी चतुराई से कोशिश करने के बावजूद देलाइस्त्रि की किसी युवा लड़के से शादी तय नहीं कर पाए। ऐसी भी बात नहीं थी कि देलाइस्त्रि की शादी का कहीं से प्रस्ताव नहीं आया हो। लेकिन जो भी प्रस्ताव आये थे, उसमें से कोई भी युवा पसंद आने वाला नहीं था। शादी के लिए आने वालों में विपत्नीक प्रौढ़ थे या फिर बीमार पत्नी वाला बूढ़ा था। हंगला पंडित को अब समझ में आया कि 'एक बार बदनाम होने वाली लड़की की शादी के बाजार में कोई कीमत नहीं रहती। चाहे वह रंभा-मेनका जैसी स्वर्ग की अप्सरा ही क्यों न हो।'...देलाइस्त्रि के भविष्य के बारे में चिंतित हंगला पंडित का मन अशांत रहने लगा।

...दो वर्ष बाद हंगला पंडित का 'नवज्योति' और लोगों के लिए 'इरागदाउ' एम. ए., पास करने के बाद घर में बेकार रहने लगा तब बाप-बेटे में बहस हो जाती। हंगला पंडित पहले से ही घर पर किसी को हर समय बोड़ो भाषा में बात नहीं करने देता था। पंडित के घर में अगर कोई भूल से भी इस नियम को भंग करता तो पंडित की लाल आँखों का उसे सामना करना पड़ता।

...हंगला पंडित के घर में प्रचलित नियमों को तोड़कर नवज्योति उर्फ इरागदेव अब केवल बोड़ो भाषा में ही बातें करता था, हंगला पंडित को फूटी आँखों से न सुहाने वाले गाँव के फटे-चीथड़े पहनने वाले गरीब, निम्न वर्ग के लड़कों से वह बातें करता, घूमता-फिरता और उन लोगों के साथ उठने-बैठने लगा। सिर्फ यही नहीं, उन लड़के-लड़कियों को घर भी लेकर आने लगा और पता नहीं किस-किस विषय पर गहराई से चर्चाएँ करता। यह सब देख-सुनकर आजकल हंगला पंडित का

रक्तचाप दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। ऐसा लोग कहते थे और दूसरी तरफ इन्हीं सब बातों को लेकर बाप-बेटे में मतभेद भी रहने लगा और दूरियाँ बढ़ने लगीं।...आजकल गाँव से जुड़ने वाले रास्ते के किनारे एक पुस्तकालय का निर्माण हो गया। जहाँ गाँव के लड़के-लड़कियाँ ग्रुप बनाकर किताबें, पत्रिकाएँ व अखबार पढ़ने लगे। कुछ लोग कैरम, लूडो आदि खेल खेलने लगे। शाम के वक्त प्राथमिक विद्यालय के समीप रिजर्व के मैदान में फुटबाल, बॉलीबॉल आदि भी खेला जाने लगा। गाँव के इस नये रूप के पीछे हाथ था नवज्योति उर्फ इरागदेव का। लेकिन हंगला पंडित! हाँ हंगला पंडित अपने बेटे की इस करतूत को देख-सुनकर दांत किटकिटाता। बुढ़ापे में और कर भी क्या सकता था हंगला पंडित। कोई चारा भी नहीं था। 'नहीं। ऐसे नहीं चलेगा। इसकी जल्दी-से-जल्दी शादी करनी पड़ेगी। तब सब ठीक हो जाएगा।' इस तरह मन में आए भावों को सोचकर मन-ही-मन मुस्कराकर हंसने लगा हंगला पंडित।

जैसी सोच, वैसा काम। अगले दिन बोड़ो से दास उपाधि ग्रहण करने वाले आमबाड़ी गाँव के अपने दोस्त पंडित की बेटी को बहू बनाने के लिए उसे देखने और बातचीत करने चला गया हंगला पंडित। दोपहर बाद खुशी मन से हंगला पंडित जब अपने घर लौटा तो उसने पाया कि घोंसले में शालिका पक्षी जिस तरह शांत पड़ा रहता है, उसी तरह उसके घर में भी सन्नाटा छाया हुआ है। ...'क्या नवज्योति घर पर नहीं है। समय बहुत खराब चल रहा है। अभी थोड़ी देर पहले सामथाइबाड़ी से पांच किलोमीटर दूर बोड़ो उदांगस्त्रि आफाद ने सेना के एक काफिले पर हमला कर आठ सैनिकों की हत्या कर दी और हथियार लूटकर ले गया। अब बोड़ो लोगों के गाँव में सेना छापामारी कर रही है।...यही सब सोचते हुए हंगला पंडित हाथ-पांव धोने के मकसद से कुएं की तरफ चला गया।

देलाइस्त्रि खाना बनाकर खा-पीकर अपने कमरे में आराम कर रही थी। अपने पंडित पिता के घर में आकर हाथ-पांव धोने की आवाज सुनते ही वह गमछा लिए भीतर से बाहर आ गयी। हंगला पंडित कुएं पर हाथ-पैर धोकर जैसे ही घर के बरामदे में पहुंचा वैसे ही देलाइस्त्रि ने गमछा उसके हाथों में थमा दिया। कोई आवाज नहीं। शांत।

हंगला पंडित ने हाथ-पांव, चेहरा पोंछते-पोंछते बेटे के बारे में पूछा तो देलाइस्त्रि ने जवाब दिया : दो दिनों से घर पर न आने वाला नवज्योति दोपहर को

एक लड़के के साथ घर आया था। दोनों खाना खाकर तुरंत चले गए। कहाँ जाएगा और कब आयेगा कुछ भी बताकर नहीं गया।

बेटी देलाइस्त्रि के मुँह से स्पष्ट जानकारी मिलते ही हंगला पंडित के दिमाग की नसें चटकने लगीं। फिर भी यह सोचकर अपने गुस्से पर काबू पा लिया कि शादी करने के बाद सब ठीक हो जाएगा।

...मन-ही-मन इन्हीं बातों को सोचते हुए हंगला पंडित ने जेब से सिगरेट निकाली, बारामदे में पड़ी आराम कुर्सी पर बैठ गया। बेटी देलाइस्त्रि थोड़ी देर सोने के बहाने अपने कमरे में चली गयी। सिगरेट का कश लगाते हुए अपने छोटे बेटे की शादी कैसे करेगा, कैसे कार्ड छपवाएगा, किस रंग का होगा, ऐसी ही चिन्ताओं में डूब गया।

...खट-खटाक, खट-खटाक भारी-भारी बूटों की आवाज के साथ सेना के दो दर्जन जवान अपनी बंदूकें ताने जब अचानक हंगला पंडित के घर में घुस आए तब हंगला पंडित चकित होने के साथ-साथ डर से रुआंसा हो गया और गूंगे-बहरों की तरह उठकर खड़ा होना भी भूल गया। सेना के एक जवान ने उसके करीब आकर हिंदी में सवालों की झड़ी लगा दी। लेकिन हंगला पंडित कुछ भी समझ नहीं पाया। सेना ने कुछ ऐसे सवाल किए थे : 'कहाँ है आपका बेटा नवज्योति उर्फ इरागदेव उर्फ नेरसौन ? कहाँ रहता है ? आप जानते हैं या नहीं, आपका बेटा प्रतिबंधित बोड़ो उदांगस्त्रि आफाद का कैप्टन है ? कुछ देर पहले उसी के नेतृत्व में उग्रवादी दल ने सेना के आठ जवानों की हत्या की थी। कुछ देर पहले वह घर आया था। कहाँ है ? कहाँ हैं बंदूकें ?...'।

ऐसे-ऐसे सवाल पूछने के दौरान ही चार जवान घर के भीतर घुस गए। देलाइस्त्रि की चीख व कराहने की आवाज सुनकर हंगला पंडित स्थिर नहीं रह पाया। हिंदी न समझने, नहीं जानने वाले हंगला पंडित ने दांत भींचते हुए कहा : 'कुत्ता का बच्चा आर्मी...'।

इतना कहने के साथ ही सवाल पूछने वाले फौजी का कठोर हाथ उसके गाल पर पड़ा। उसके बाद क्या हुआ हंगला पंडित कुछ नहीं जान पाया। थोड़ी ही देर में पंडित के घर में कपड़े-लत्ते, रजाई, बिस्तर, टेबल, खाने की मेज, सोफा-कुर्सी, पलंग, आलमारी, किताबें, टेप-रेडियो आदि तोड़कर आग लगा दी गयी। सोना, चांदी, घड़ी, रुपये-पैसे लूट लिए गये और, और देलाइस्त्रि के साथ बदतमीजी से पेश आते हुए मारपीट कर अपनी जबर्दस्ती का शिकार बनाकर चले गये।

हंगला पंडित की घृणा के शिकार गाँव के मूर्ख, भोले-भाले और फटे-चीथड़े कपड़े पहनने वाले गरीब तथा दरिद्र लोग सेना के चले जाने के तुरंत बाद आकर उसकी और उसकी बेटी देलाइस्त्रि की तीमारदारी करने लगे। लहसुन पीसकर कड़वा तेल की मालिश करने लगे तथा सिर पर ठंडा पानी डालने लगे।...यह सब देखकर हंगला पंडित अपने-आप को अपराधी महसूस करने लगा। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। अपने ही गाँव के और बचपन में जिन लोगों के साथ खेला-कूदा और आजकल अपनी ही हमउम्र भोले-भाले, मूर्ख, फटे-चीथड़े, मैले-कुचैले कपड़े पहने लोगों के पांव पकड़कर अपनी गलतियों की वह माफी मांगने लगा। पश्चाताप से उसका मन-मस्तिष्क छरकने लगा। लेकिन-लेकिन-।

गाँव के युवकों की तरफ अपनी कमजोर निगाहों से देखते हुए फटी हुई आवाज में पूछा- तो क्या- तो क्या हमारा इरागदेव ही बोड़ो उदांगस्त्रि आफाद का कैप्टन बी नेरसौन है ?

हंगला पंडित के सवाल के जवाब में किसी एक युवा लड़के ने पंडित की आँखों से आँखें मिलाते हुए कहा- हाँ- इसी तरह का इशारा करते हुए केवल सिर हिलाया। देलाइस्त्रि- फैशन करने वाली लड़की या महिला। उदांगस्त्रि- आजादी। आफाद - संगठन।

संपर्क : 09864063790

बांग्ला

मूल : शक्ति चट्टोपाध्याय

अनुवादक : जीवन सिंह

बिल्ली

सुख के अत्यंत निकट बैठी है बीमार बिल्ली
 पशम के अर्न्तगत पड़ी है बीमार बिल्ली
 बहुत नजदीक बैठी है हितव्रती बीमार बिल्ली
 नजदीक बैठी है कुछ पाने की चाह में, अमरत्व पायेगी।
 पास पाकर रख पाना कठिन है
 कठिन है देख पाना चादर या गुदरी से घर हो या बाहर
 मोटे चादर और गुदरी से ढके
 घर और बाहर के बलवान आवरण में
 आच्छादित है दुर्भेद्य कष्ट के सम्मोहन में
 सुख के अत्यंत निकट बैठी है
 असुखी बिल्ली।।

सिर्फ जीना चाहता हूँ

नदी का किनारा टूटकर ढह रहा है
 चौड़ी हो रही है नदी
 दोनों ही तरफ फैलता जा रहा है
 नदी का पानी, दिन दूना रात चौगुना
 लीलता ही जा रहा है घर द्वार सब
 पानी की तेज धार पोखर को तोड़कर,
 मैदानों को पारकर तहस-नहस कर रही है
 तोड़ता-झिंझोड़ता बढ़ती जा रही है
 सूखे स्थल से भटका कोई त्रस्त पक्षी
 लगा रहा है आकाश की तरफ छलांग
 परित्राण चाहिए, जीवित रहना चाहता हूँ
 जीना चाहता हूँ
 केवल जीना, अहरह मृत्यु के झंझावात के बीच
 जीवित रहना चाहता हूँ, केवल जीवित रहना चाहता हूँ।

आखिरी दिन

हृदय में क्षुधा, इतने दिनों के बाद—
 क्या रहने योग्य नहीं था घर अब तक
 हृदय के मध्य क्षुधा इतने दिनों के बाद!
 दिन की द्योतना का प्रारंभ, संक्रांति का शेष—
 बाहर भीतर में थे तुम अनिमेष।
 अंतिम दिन भी उड़ती है प्रीतिप्रद राख
 उस खोये बिखरे को क्यों पास पाता हूँ।

तुम अकेले रहना

देवदार के वन सिर्फ तुम्हें ही बुलाते हैं
 उसकी गहरी जड़ों में, तुम हो स्तनपायी!
 वहाँ के दुधिया रंग, रसवर्ण तुम्हें पसंद है
 इस बात को पोस्टर पर लिखकर चिपका दिया है तुमने
 किसी दिन आधी रात के अजोरे में?
 सच बतलाओ, मैं कोशिश करके देखता हूँ।
 गोद का कंगाल मैं, प्यास से जर्जरित मैं
 केवल चंदन की चिता बुलाती है मुझे
 चले आओ, अवमानना न करो
 घर खाली है, मिट्टी हटायी गई है
 चले आओ, अवमानना न करो।
 ऐसे जाने से पहले, देवदार की जड़ों में मुख रखता हूँ
 कम-से-कम एक बार जाऊँ, उसके बाद, यथा इच्छा जाऊँ
 तुम अकेले रहना।।

सम्पर्क: 11/2, केदारनाथ दास लेन, दमदम जंक्शन
 कोलकाता-700030 (पश्चिम बंगाल)
 मो. 9433352976

मीडिया का लोकतंत्रीकरण : लेख मीडिया

डॉ. उमेश चन्द्र शुक्ल

हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद कॉलेज
परेल, मुंबई

www. अर्थात् वर्ल्ड वाइड वेब ने संचार के संकुचन को तोड़ते हुए इंटरनेट के एक क्लिक के सहारे सम्पूर्ण विश्व को विजित कर लिया है। गाँव से लेकर महानगर तक झोपड़ों से लेकर राजमहल तक धरती से लेकर अंतरिक्ष तक सूचना, सूचना और सूचना। सूचना क्रांति के दूत वेब ने हमारे चारों तरफ अपना संजाल बुन रखा है। सूचना प्रौद्योगिकी की इस महान विजय के फलस्वरूप वेब पत्रकारिता अथवा सायबर जर्नलिज्म का सूत्रपात हुआ। संचार के सबसे शक्तिशाली व तीव्र माध्यम के रूप में इंटरनेट ने संचार के सभी परम्परागत मॉडलों व प्रक्रियाओं को गौण बना दिया है। तीन सूक्ष्म शब्दों 'डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू' ने संचार की गति को अत्यधिक तीव्र कर दिया है। एक उंगली के इशारे पर हजारों किलोमीटर की दूरियों को पलक झपकते तय किया जा सकता है। सूचना क्रांति के इस दौर में इंटरनेट आज एक सर्वव्यापी सत्ता बन कर उभरा है। विश्व संचार की इस नयी तकनीकी ने हमें अपना दास बना लिया है और इसी कारण इंटरनेट में किसी भी प्रकार का व्यवधान हमें चिंतित कर देता है। अग्नि, चक्र तथा लिपि के आविष्कार ने मनुष्य के विकास को गति दी तो वेब का आभासी संसार, विकास की नव संभावनाओं की असीम ऊर्जा के साथ अपने नये अवतार में हमारे सम्मुख अवतरित है। वेब की दुनिया में इंटरनेट एक ऐसा माध्यम है जिसके जरिये किसी देश की भौगोलिक सीमायें आड़े नहीं आतीं। सूचना प्रौद्योगिकी ने विश्व के लोगों को जितना करीब ला दिया है उतना करीब शायद ही किसी अन्य तकनीक ने लाने का प्रयास किया हो ? इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि वेबसाइट पर भारत में अगर कुछ डाला जाता है तो उसे हजारों मील दूर बैठे किसी भी क्षेत्र में, उसे उसी क्षण देखा जा सकता है। अभी वेब की दुनिया में हिंदी पत्रकारिता अपने शैशवकाल से गुजर रही है।

हमारे पास सूचना के तीन सशक्त माध्यम हैं- पत्र-पत्रिकाएँ, रेडियो और टेलिविजन परन्तु अब कलम विहीन पत्रकारिता के रूप में साइबर जर्नलिज्म का आविर्भाव हुआ है। जिस समाचार के लिए कुछ समय पहले तक घंटों इंतजार करना पड़ता था, वह अब पल भर में हमारे दृश्य पटल पर होता है। इसे विस्तार से पढ़ा भी जा सकता है तथा संग्रहित भी किया जा सकता है। इसमें दैनिक जीवन के रोजमर्रा समाचारों से लेकर सिनेमा, फैशन, जीवनशैली, शिक्षा, समाज, विज्ञान, रहस्य-रोमांच, ज्योतिष तथा ज्ञान-विज्ञान सभी विषयों पर ताजा तथा उपयोगी सामग्री प्राप्त की जा सकती है। महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समाचार पत्रों के इंटरनेट संस्करणों ने एक नई प्रणाली ई-जर्नलिज्म की शुरुआत की है। सूचना तकनीकी के क्षेत्र में कम्प्यूटर के आने और फिर डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू यानी वर्ल्ड वाइड वेब के इंटरनेट के

माध्यम से सूचना संचार के क्षेत्र में जो क्रांति आयी। इसने दुनिया को सीमित कर दिया। एक अंगुली की मदद से पूरी दुनिया को कुछ ही क्षणों में जानने का मौका मिला। वर्ष १९६९ में, एडवांस्ड रिसर्च प्रोजेक्ट एजेंसी ने संयुक्त राज्य अमेरिका के चार विश्वविद्यालयों के कम्प्यूटरों की नेटवर्किंग करके इंटरनेट की शुरुआत की थी। आज “एक सूचना को विश्व के कोने-कोने में पहुंचाने के लिए एक संदेश एक भाषा से दूसरी, दूसरी से तीसरी और तीसरी से चौथी भाषा की गोद में कूदता हुआ विश्व के सभी उन्नत भाषाओं की गोद में खेलने लगा है।” भारत में इंटरनेट पत्रकारिता ने लगभग दस साल पहले दस्तक दी। कुछ समय पहले तक जहाँ हमें अपनी समाचार पढ़ने संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समाचार पत्र, समाचार सुनने के लिए रेडियो तथा समाचार देखने के लिए टेलीविजन पर निर्भर रहना पड़ता था वहीं अब समाचार पढ़ने, सुनने व देखने का एक स्थान इंटरनेट समाचार पोर्टल के रूप में विकसित हो चुका है। इंटरनेट पत्रकारिता पर काफी लम्बे समय तक अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व रहा है। परन्तु गत पांच-छह वर्षों से हमारी मातृभाषा हिन्दी का प्रयोग समाचार पोर्टल के रूप में किया जाने लगा है। प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों ‘दैनिक भास्कर’, ‘राष्ट्रीय सहारा’, ‘दैनिक जागरण’, ‘हिंदुस्तान’, ‘दैनिक ट्रब्यून’, ‘अमर उजाला’, ‘राजस्थान पत्रिका’, ‘नवभारत टाइम्स’, ‘हिन्दी मिलाप’, ‘नई दुनिया’, ‘स्वतन्त्र चेतना’, ‘राज एक्स्प्रेस’ आदि सैकड़ों समाचार पत्र-पत्रिकाओं तथा दर्जनों समाचार चैनल आज तक, एन.डी.टी.वी., आइबीएन सेवन, एबीपी न्यूज आदि ने भी हिन्दी इंटरनेट समाचार पोर्टलों के माध्यम से हिन्दी का मान-सम्मान बढ़ाया है। इंटरनेट समाचार सेवा को तेजी से बदलते समय तथा बाजार की माँग स्वीकार करते हुए अधिकतर हिन्दी समाचार पत्रों ने इंटरनेट समाचार पोर्टल शुरू किए। अभी हाल ही में याहू व जागरण के मध्य हुए करार ने हिन्दी समाचार पोर्टल के भविष्य को चार चांद लगा दिया है। हिन्दी भाषा ताजा समाचारों से लैस वेबसाइटों ने समाचारों की रूपरेखा को नया आयाम प्रदान किया है। हिन्दी समाचार पोर्टल के रूप में जागरण डॉट कॉम (www.jagran.com) ने विश्व की प्रमुख वेबसाइटों में उच्च स्थान पाकर हिन्दी भाषा और भारत का गौरव बढ़ाया है। समाचार पोर्टलों पर समाचार पढ़ने के साथ-साथ कुछ अन्तर्राष्ट्रीय समाचार

संगठनों ने हिन्दी में समाचार सुनाने की सुविधा भी प्रदान की है। इसमें ऑल इंडिया रेडियो, बी.बी.सी. हिन्दी व वाइस ऑफ अमेरिका का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। दुनिया भर में हिन्दी की महत्वपूर्ण समाचार वेब साइटों ने समाचार एकत्रित करके एक स्थान पर उपलब्ध करवा कर गूगल, याहू ने पाठक का काम आसान कर दिया है। इन संगठनों की समाचार पोर्टल पर महत्वपूर्ण ऑनलाइन, समाचार साइटों के खण्ड बने होते हैं। पाठक अपनी पसंद के अनुरूप समाचार को मुख्य पृष्ठ पर व्यवस्थित कर सकता है। जहाँ तक समाचार सुनने के साथ देखने का सवाल है विभिन्न हिन्दी चैनलों की साइट पर महत्वपूर्ण समाचारों के वीडियो देखे भी जा सकते हैं। इनमें आज तक, आई.बी.एन. सेवन, एन. डी. टीवी आदि के नाम प्रमुखता से लिये जा सकते हैं। इन चैनलों की साइट पर फ्लैश फाइल के रूप में वीडियो समाचार उपलब्ध है।

सूचना और संचार क्रांति के दौर में आज प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बीच वेब पत्रकारिता का चलन तेजी से बढ़ा है। अखबारों की तरह वेब पत्र और पत्रिकाओं का जाल, अंतरजाल पर पूरी तरह बिछ चुका है। छोटे-बड़े सभी शहरों के प्रिंट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया भी वेब पर हैं। इस बात से अंदाजा लगाया जा सकता है कि भारत में थोड़े ही समय में इसने बड़ा मुकाम पा लिया है। अभी हिन्दी वेब मीडिया के विकास की असीम संभावनाएँ हैं। भारत में अभी भी वेब पत्रकारिता की पहुंच अगली पंक्ति में खड़े लोगों तक ही सीमित है। क्रमशः मध्यम वर्ग तक वेब का संजाल फैल रहा है। वह समय दूर नहीं जब गाँव-गिराव इसके दायरे में आ जाएंगे। जहाँ तक समाज के अंतिम व्यक्ति की बात है। वह दिन दूर नहीं जब रेडियों की तरह वेब माध्यम आम आदमी की मुट्ठी में होगा। अंतरजाल मुहैया कराने वाली कंपनियों ने ग्रामीण क्षेत्रों पर ज्यादा ध्यान दिया है और इंटरनेट अब गाँवों तक पहुँच गया है। इसके माध्यम से वेब पत्रकारिता ने भी अपनी पहुँच बना ली है। हिन्दी पत्रकारिता से जुड़े विभिन्न ऑनलाइन संस्करणों ने समाचार अपनी पसंद के अनुरूप आर.एस.एस. यानी ‘रियल सिंपल सिंडिकेशन’ की सहायता से अपनी निजी वेबसाइट, ई-मेल अथवा ब्लॉग पर एकत्रित कर पढ़ा, सुना व देखा जा सकता है। इन समाचार साइटों से अपने मोबाइल पर अपडेट समाचार संदेश प्राप्त किया जाना हमारी त्वरित सूचना पाने की इच्छा की पूर्ति करता

है। बहुत कम समय में हिन्दी के ई-समाचार पत्रों ने जिस प्रकार से सफलता के नये प्रतिमान स्थापित किये हैं, उससे हिन्दी पत्रकारिता के इस नये रूप का भविष्य अवश्य ही उज्ज्वल होगा। वेब वाहक हिन्दी पत्रकारिता सफलता के नये प्रतिमान स्थापित करेगी।

समाचार पत्रों के प्रिंट संस्करणों की ओर देखें तो वहां भी हिन्दी समाचार पत्रों खासकर दैनिक भास्कर और दैनिक जागरण देश के शीर्ष समाचार पत्रों के रूप में उभरे हैं। इन्होंने अंग्रेजी के शीर्ष समाचार पत्रों को पीछे छोड़ दिया है। इसकी वजह स्थानीय समाचारों को प्रमुखता से प्रसारित और प्रचारित करना है। राष्ट्रीय मुद्दों के साथ-साथ प्रादेशिक व स्थानीय समाचारों को प्रमुखता से प्रसारित कर रहे हैं। हिन्दी वेब पत्रकारिता की कुछ प्राथमिक समस्याओं का समाधान हो जाए तो यह संरचनात्मक भूमिका का निर्वाह कर सकती है। यह समाचार माध्यमों के नये युग के निर्माण का समय है।

वेब मीडिया के आधार सूत्र, संवाहक ई-मेल का पहली बार प्रयोग १९७२ में किया गया था। जहाँ तक वेब पत्रकारिता की बात है तो, १९९२ में वर्ल्ड वाइड वेब के जारी होने के बाद अब वेब मीडिया पर हिन्दी के लगभग ३५०० समाचार पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। वेब पत्रकारिता के दौर में अंग्रेजी समाचारों के मामले में वाशिंगटन पोस्ट, न्यूयार्क टाइम्स और फाइनेंशियल टाइम्स के नेट संस्करण काफी चर्चित हैं। ये सभी वेबसाइट १९९६ के शुरुआती दौर में इंटरनेट पर आये थे। वेब पत्रकारिता की शुरुआत को अभी अधिक वक्त नहीं हुआ है। १९९५ में चेन्नई से प्रकाशित दैनिक अंग्रेजी पत्र 'हिन्दू' ने नेट संस्करण शुरू किया। इसी के साथ देशी वेब पत्रकारिता ने जोर पकड़ा और १९९६ में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' और 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' ने अपना इंटरनेट संस्करण शुरू किया और आज इनकी संख्या में दिनोंदिन बढ़ोत्तरी हो रही है। समाचार पत्र हो या टीवी-खबरिया चैनल या फिर रेडियो सभी वेब पत्रकारिता और हिन्दी ऑनलाईन वेब पत्रकारिता का अपना एक अलग संसार कायम हो चुका है। लगभग सभी राष्ट्रीय और स्थानीय प्रमुख समाचार पत्रों का अपना वेबसाइट है और वे ई-पेपर निकाल रहे हैं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार वर्ष २०१० में एक पंजीकृत इंटरनेट कनेक्शन को औसतन १५ लोग प्रयोग करते थे हालांकि इसमें अब काफी बढ़ोत्तरी

हुई है। साइबर कैफे और व्यक्तिगत कम्प्यूटर की माँग और संख्या तेजी से शहरी क्षेत्रों में बढ़ी है।

हिन्दी समाचार पत्रों ने जो विकास वेब के पत्रकारिता के क्षेत्र में किया वह साहित्यिक पत्रकारिता ने नहीं किया है। हालांकि कुछ चर्चित साहित्यिक पत्रिकाओं का नेट संस्करण आने लगा है। इनमें चर्चित 'हंस' www.hansmonthly.in, वर्तमान साहित्य www.vartamansahitya.com, 'पाखी' www.pakhi.in, 'वागर्थ', 'लमही', 'कथादेश' www.hindlok.com, 'कथाक्रम', 'नवनीत', 'समकालीन साहित्य', 'साहित्य अमृत', 'समयांतर सृजनगाथा' आदि साहित्यिक पत्रिकाएँ वेब पर उपलब्ध हैं। वेब मीडिया अपने पहले के तीनों माध्यमों से चाल और चरित्र में अलग होते हुए भी तीनों की संभावना और चरित्र को खुद में समाहित करके उनके प्रसार में भी अहम् भूमिका निभा रहा है। यही वजह है कि इस माध्यम की पत्रकारिता दूसरे माध्यमों की तुलना में कहीं ज्यादा चुनौतीपूर्ण है। इस माध्यम की चुनौती को जिस पेशेवराना अंदाज से जूझने की तैयारी होनी चाहिए, कम से कम भारतीय भाषाओं में यह चुनौती नदारद है। वेब पत्रकारिता की मुखर आवाज यदि भारतीय भाषाओं में दिख रही है तो उसका सबसे बड़ा जरिया बने हैं इस माध्यम की ताकत और महत्व को समझने वाले कुछ शौकिया लोग। वेब पत्रकारिता के लिए अलग से टीम नहीं रहने से मौलिकता का भी अभाव रहता है। खबरों में अपडेट का अभाव साफ दिखता है। वैसे एक-आध साइटें हैं जो खबर अपडेट करने की दिशा में सक्रिय हैं। वेब पत्रकारिता को व्यापक बनाने के लिए अलग से रिपोर्टर रख कर ऑनलाइन रिपोर्ट फाइल करवाने की आवश्यकता है। साथ ही प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की तरह इसे अलग रखकर इसके विकास के प्रति जवाबदेही होना होगा। केवल अखबारों के संस्करण नेट पर छोड़ने से काम नहीं चलेगा। वेब पत्रकारिता को स्थापित करने के लिए इसकी अपनी दुनिया होनी चाहिए ताकि यह अपनी मौलिकता के साथ पहचानी जाये। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में वेब मीडिया महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह कर रहा है। वेब के बढ़ते चलन में प्रमुख बात यह है कि उपयोग करने वाले बारह से चालीस वर्ष आयु वर्ग के लोग ज्यादा मिलेंगे। कुछ लोग तो मनोरंजन के लिए जुड़ते हैं, कुछ जानकारी के लिए। कई प्रमुख खबरें भी अब

चैनल समाचार पत्र या पत्रिका में आने से पहले नेट पर आ जाती हैं। जो लोगों के आकर्षण का केन्द्र है। दस वर्षों में वेब पत्रकारिता ने काफी विकास किया है। खबरों को पहले जानने की होड़ में वेब पत्रकारिता ने बाजी मार ली है। भूमंडलीकरण ने लोगों की सोच को बहुत हद तक बदल दिया है। आज उन्हें न तो निर्धारित सीमा पसंद है और न ही वक्त का इंतजार और न ही संकुचित विचार। अतः लोगों ने अपने आप को अपडेट करना शुरू कर दिया है। उन्हें समाचार सिर्फ अखबार, रेडियो या चैनलों से ही नहीं चाहिए बल्कि वेब पत्रकारिता और फोन से भी चाहिए। ताकि लोग हर पल घट रही घटनाओं से जुड़े रहें और उस खबर की पूरी जानकारी उन तक मिलती रहे। वेब मीडिया ने पत्रकारिता के आमूल चाल, चरित्र और चेहरे में क्रांति ला दी है। इसके पूर्व सभी माध्यमों की अपनी स्वतंत्र पहचान थी। इंटरनेट पर स्वतंत्र समाचार साइटें भी हैं तो अखबारों के अपने ई-संस्करण भी मौजूद हैं। स्वतंत्र पत्रिकाएँ भी हैं तो उनके ई-संस्करण भी आज कम्प्यूटर से महज एक क्लिक की दूरी पर मौजूद हैं। इसी तरह टेलीविजन और रेडियो के चैनल भी वेब मीडिया पर मौजूद हैं। 'इंटरनेट एंड मोबाइल एसोसिएशन ऑफ इंडिया' के आंकड़ें बताते हैं कि वर्ष २००६ में लगभग ४ करोड़ ३५ लाख इंटरनेट उपभोक्ता थे जिनकी संख्या वर्ष २०१२ में बढ़कर १७ करोड़ हो गई है। यह आंकड़ा स्वयं वेब मीडिया के मिजाज को स्पष्ट कर जाता है संचार मंत्रालय के एक आंकड़े के मुताबिक 'देश में जून २०१३ तक मोबाइल फोन उपभोक्ताओं की संख्या ३४ करोड़ ६७ लाख तक पहुँच गई है।' इस बीच मोबाइल, लैपटॉप, टैबलेट, फ़ैबलेट के जरिये भी इंटरनेट के इस्तेमाल की प्रवृत्ति बढ़ी है। एक अमेरिकी संस्था 'बोस्टन कंसल्टिंग ग्रुप' के 'इंटरनेट्स न्यू बिलियन' नाम से जारी एक रिपोर्ट के मुताबिक इस समय भारत में १८ करोड़ इंटरनेट उपभोक्ता हैं। टेलीकॉम रेग्युलेटरी अथॉरिटी ऑफ इंडिया यानी ट्राई के मुताबिक मोबाइल के जरिये जून २०१३ तक २१.४ करोड़ लोग इंटरनेट का इस्तेमाल कर रहे थे। जिसमें ७० प्रतिशत तक बढ़ोत्तरी की संभावना है। वहीं 'बोस्टन कंसल्टिंग ग्रुप' के मुताबिक २०१५ तक भारत में बेसिक टेलीफोन कनेक्शनों के जरिये इंटरनेट इस्तेमाल करने वालों की संख्या बढ़कर २३.७ करोड़ हो जायेगी। इसी रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत का मौजूदा इंटरनेट

उपभोक्ता प्रतिदिन ४५ मिनट तक इंटरनेट का इस्तेमाल करता है। जिसके बढ़ने की संभावना अपार है। इस रिपोर्ट के मुताबिक सिर्फ २०१५ तक ही भारत का उपभोक्ता रोजाना ४५ मिनट की जगह लगभग ११० मिनट रोज नेट का इस्तेमाल करने लगेगा। वेब मीडिया समय की मजबूरियों से मुक्ति। अखबार या पत्रिकाएँ एक निश्चित अंतराल के बाद ही प्रकाशित होते हैं। टेलीविजन ने इस अंतराल को निश्चित तौर पर कम किया है। रेडियो ने भी वाचिक माध्यम के तौर पर इस अंतराल को घटाया ही है। जब खबर आई या उसका वीडियो या उसका आडियो शूट किया गया और उसे वेब पर लोड कर दिया गया। छोटी पूंजी में एक कमरे के दफ्तर या सिर्फ एक लैपटॉप और वेब कनेक्शन के जरिये भी वेब पत्रकारिता की जा सकती है। वेब मीडिया के लिए कल्पनाशील दिमाग और बौद्धिक कौशल चाहिए। वेब माध्यम में इसी कौशल की सबसे ज्यादा जरूरत है। वेब पत्रकारिता आज मीडिया का सबसे तेजी से विकसित होने वाला माध्यम बन गया है। अखबारों की तरह वेब पत्र और पत्रिकाओं का जाल अंतर्जाल पर पूरी तरह बिछ चुका है। आज मीडिया के पूरे बाजार की नजर हिंदी वेब पत्रकारिता पर है। मुद्रित पत्रिकाओं और साहित्य का दायरा आज अंतर्जाल के सामने बहुत सीमित हो गया है हर क्षण कुछ न कुछ नया जुड़ रहा है हिंदी सामग्रियों की संख्या और स्तर दोनों ही बढ़ते जा रहे हैं। कभी किताबें, अखबार और पत्रिकाएँ दोस्त हुआ करती थीं किन्तु आज दोस्त वेब माध्यम है क्योंकि यह दुतरफा संवाद का भी माध्यम है। वेबसाइट्स ने दुनिया की तमाम भाषाओं में हो रहे काम और सूचनाओं का रिश्ता और संपर्क भी आसान बना दिया है। एक क्लिक पर हमें साहित्य और सूचना की एक वैश्विक दुनिया की उपलब्धता क्या आश्चर्य नहीं है। नयी पीढ़ी आज ज्यादातर सूचना या पाठ्य सामग्री की तलाश में वेबसाइट्स पर विचरण करती है। वेब पर पत्र-पत्रिका का प्रकाशन सिर्फ आपकी तकनीकी दक्षता और कुछ आर्थिक संसाधनों के माध्यम से जीवित रह सकता है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वेब पत्रिका का टिका रहना उसकी सामग्री की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। अखबारों के प्रकाशन में लगने वाली बड़ी पूँजी के कारण उसके हित और सरोकार निरंतर बदल रहे हैं। इस दृष्टिकोण से भी इंटरनेट ज्यादा लोकतांत्रिक दिखता है।

स्वभाव से ही लोकतांत्रिक माध्यम होने के नाते संवाद यहाँ सीधा और सुगम है। भारतीय समाज में तकनीक को लेकर हिचक के कारण वेब माध्यम अभी इतने प्रभावी नहीं दिखाई देते परंतु यह तकनीक भी सही मायनों में निर्बल का बल है। इस तकनीक के इस्तेमाल ने एक अंजाने से लेखक को भी ताकत दी है जो अपनी रचनाशीलता के माध्यम से अपने दूरस्थ दोस्तों को भी उससे जोड़ सकता है। वेब पत्रकारिता करने वालों का दायरा बहुत बड़ा हो जाता है। उनकी खबर एक पल में सारी दुनिया में पहुँच जाती है, जो कि अन्य समाचार माध्यमों के द्वारा संभव नहीं है। मीडिया का लोकतंत्रीकरण करने में वेब पत्रकारिता की मुख्य भूमिका दिखायी देती है। विकसित तकनीक की उपलब्धता के कारण वेब पत्रकारिता को नित नये-नये आयाम मिल रहे हैं। सीमित संसाधन वाला व्यक्ति भी हाई स्पीड सेवाओं को आसानी से प्राप्त कर लेता है। वेब पत्रकारिता का भविष्य उज्ज्वल है और इसमें विकास की प्रबल संभावनाएँ हैं। आवश्यकता पहल करने की है।

हिन्दी वेब पत्रिका के विकास की गति बताती है कि जल्दी ही यह अन्य माध्यमों को पीछे छोड़ देगी। वेब पत्रकारिता में संभावनाएँ इस दृष्टि से और भी प्रबल हो जाती हैं कि प्रिंट मीडिया की किसी भी खबर के लिए अखबार में कम से कम आठ घण्टे तक समाचारों के लिए इंतजार करना पड़ता है, दूसरी ओर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में समय को लेकर कोई पाबंदी नहीं है। ऐसे में समय और उपलब्धता के साथ ही तात्कालिकता के लिहाज से मीडिया का यह माध्यम ज्यादा कारगर साबित हो सकता है। वेब पत्रकारिता समाचार माध्यमों के लिए एक गंभीर चुनौती के रूप में सामने आ रही है, खासकर मुद्रित माध्यमों के लिए। जिस तरह से वेब पत्रकारिता में राष्ट्रीय या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ निवेश कर रही हैं। वैश्विक परिवेश में देखा जाए तो इंटरनेट उपभोक्ताओं की तादाद में लगातार इजाफा हो रहा है। इंटरनेट पर खबरों तथा अन्य जानकारीयों को जानने वालों की संख्या के चलते इसके ट्रैफिक में

वृद्धि हो रही है। इंटरनेट की एक सबसे बड़ी खासियत यह है कि इसमें सूचनाओं तथा समाचारों को हम पढ़, देख और सुन सकते हैं, जिसके कारण हमें अखबार, रेडियो और टेलीविजन की कमी का अहसास नहीं होता। इन सबके अलावा इंटरनेट पर हम अपनी प्रतिक्रिया भी तुरंत ही दे सकते हैं। वेब पत्रकारिता ने समाचार और सूचना संसार में बड़ा परिवर्तन किया है। नई तकनीक के आने से वेब पत्रकारिता ने तुरंत की संस्कृति को जन्म दिया है। तकनीक में हो रहे परिवर्तन ने वेब पत्रिका को जोरदार गति दी है। वेब मीडिया आम आदमी को सूचनाएँ, समाचार और अपने विचार दुनिया के सामने रखने का अवसर देती है। क्षेत्रीय और स्थानीय भाषा में बन रहे वेब पोर्टलों और वेबसाइटों के कारण वेब पत्रकारिता से अंग्रेजी का प्रभुत्व धीरे-धीरे खत्म हो रहा है। वेब पत्रकारिता करने वालों का दायरा बहुत बड़ा है, उनकी खबर पलक झपकते ही सारी दुनिया में पहुँच जाती है, जो कि अन्य समाचार माध्यमों में संभव नहीं है। हिंदी वेब पत्रकारिता के क्षेत्र में काफी कुछ किए जाने की जरूरत है। ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, समाज, चिकित्सा, व्यवसाय-वाणिज्य, शिक्षा, रोजगार आदि अनेकानेक क्षेत्र में वेब दुनियाँ की आभासी क्षमता, सामर्थ्य तथा गति को देखा, समझा सुना जा सकता है। अब आवश्यकता समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की है। अनंत, असीम संभावनाओं की सामर्थ्य का दोहन हमें नव युग, नव चेतना से लैस कर सकता है। वेब का आभासी संसार ही संभावनाओं की शक्ति है आज के आपाधापी के युग में रफ्तार का बहुत महत्व है और वेब पत्रकारिता उस पैमाने पर खरी उतर रही है। वेब मीडिया पाठकों को हर जानकारी उस जगह और उस वक्त सुलभ कराती है जिस जगह और जिस वक्त वे उसकी मांग करते हैं। इस प्रकार वेब पत्रकारिता अन्य संचार माध्यमों को जबर्दस्त एवं सशक्त चुनौती दे रही है। वेब हिंदी जर्नलिज्म के विकास की अनंत संभावनाएँ हैं। वस्तुतः वेब पत्रकारिता ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के नारे को चरितार्थ कर दिया है।

103, ओशियन व्यू, आर.पी. पार्क, भायंदर (पूर्व)

ठाणे पिन-401105

मो. 0932455008

Email : shuklaumeshchandra@gmail.com

उसने कहा था: प्रेम की कालजयी दास्तान

लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

उन दिनों की बात है जब कहानियाँ किस्सों की शक्ल में दादी-नानी की जबान पर बसा करती थीं और अबोध मन मस्तिष्क में दुनियावी अक्ल आने से पूर्व उनके कौतूहल और मनोरंजन का सबसे अच्छा माध्यम हुआ करती थीं। किस्सों का विषय भी निश्चित हुआ करता था— एक राजा और एक रानी की कहानी। उनके प्रेम की कहानी। वास्तव में ईश्वर के द्वारा संसार को भेंट की गयी सबसे बड़ी नियामत की कहानी। तमाम कहानियों में बस इतना अंतर होता था कि सबके मिलने और बिछुड़ने के रास्ते अलग-अलग होते थे। उन्हीं दिनों यानी की लगभग सौ वर्ष पहले इन किस्सों ने यथार्थ में अपनी जगह बनाई और प्रेम राजा-रानी को बिसारता हुआ, सामान्य लोगों के सहारे हिंदी कहानी में दस्तक देने लगा।

हजार वर्षों के हिंदी साहित्येतिहास में कहानी के विकास का इतिहास लगभग सौ वर्षों का है। सौ वर्षों में हिंदी कहानी ने जो उपलब्धियाँ अर्जित की हैं, वे साहित्य की किसी अन्य विधा को शायद ही मिली हो। यही वजह है कि हमारे दौर (इक्कीसवीं सदी) में भी कहानी साहित्य के केन्द्र में है। इस पर अनवरत बहसों का सिलसिला बना हुआ है। जहाँ इन बहसों में अपने समय की रचनाशीलता पर गहन विचार विमर्श होता है, वहीं इन बहसों का रुख कभी-कभार इतिहास की ओर भी मुड़ जाता है। मेरी कोशिश भी यही है कि आपको कहानी के प्रारंभिक काल में ले चलूँ और अपने समय की या कहूँ कि हिंदी कहानी की अद्वितीय कहानी 'उसने कहा था' को फिर से पढ़ने का जोखिम उठाऊँ। हिंदी की पहली कहानी और कहानीकार को लेकर हम परस्पर चाहे जितना विवाद कर लें, परन्तु हिंदी की पहली श्रेष्ठ कहानी और कहानीकार को लेकर हम सबकी राय एक ही होती है। यूँ तो पंडित चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने साहित्य के विकास में बहुत कुछ जोड़ा; किंतु, जिस कारण उन्हें साहित्येतिहास में अमरता मिली, वह उनकी कहानी 'उसने कहा था' की देन है।

गुलेरी जी ने सिर्फ तीन कहानियों की रचना की— 'सुखमय जीवन' (१९११), 'बुद्धू का काँटा' (१९११-१५ के बीच) और 'उसने कहा था' (१९१५)। यदि आप इन तीनों कहानियों को एक साथ पढ़ें तो एक सुसंगत विकास दिखायी पड़ेगा। आप देखेंगे कि किस भाँति गुलेरी जी ने सृष्टि के शाश्वत सत्य, 'प्रेम' को कहानी के केन्द्र में लाकर

अपने समय का दस्तावेज रच डाला है। 'उसने कहा था' इस दस्तावेज का चरम बिन्दु है, जहाँ पहुँचकर हम मुक्त हो जाते हैं, और यह सम्पूर्ण चराचर जगत प्रेममय दिखने लगता है। यहाँ साहित्य समाज से कटता नहीं है; बल्कि समाज की गहरी छानबीन करता है, अपने समय की नब्ज पकड़ता है। यह सब कुछ घटित होता है, पर प्रेम का गुलाबीपन जरा भी फीका नहीं पड़ता। यूँ तो हिंदी कहानी में लिखने को बहुत कुछ लिखा जा रहा था, बहुत कुछ लिखा जा चुका था; फिर भी एक परम बौद्धिक मस्तिष्क को धारण करने वाले एक बेहद भावुक मन प्रेम के सहारे दुनिया को समझने की कोशिश कर रहा था। जहाँ इस मन ने 'सुखमय जीवन' के लिए जयदेवशरण वर्मा और कमला को आपस में मिलाया था। वहीं 'बुद्धू का काँटा' में हँसी-ठिठोली के बीच भागवन्ती के पाँव का काँटा निकालते हुए रघुनाथ का प्रेम पनपा था और उसकी परिणति भी विवाह के रूप में ही हुई थी। जहाँ पहली कहानी में आकर्षण, प्रस्ताव और विवाह की घटना है; वहीं दूसरी में भागवन्ती की चंचलता और बेबाकीपन से जन्मा प्रेम है, जो कुछ समय के साहचर्य के बाद अंततोगत्वा विवाह तक पहुँच कर ही खत्म होता है। लेकिन; 'उसने कहा था' प्रेम के दूसरे पक्ष का ज्यादा विशद चित्रण है। जहाँ एक महीने तक घड़ी-दो-घड़ी का मिलना, एक-दो बातें करना और एक दिन एक-दूसरे से बिछड़ जाना। लड़की तो कुड़माई करके किसी और की हो जाती है, पर लड़का किसी और का नहीं हो पाता। शायद वह बारह साल का लड़का उस आठ साल की लड़की के नाम पूरा जीवन कर देता है, जो आगे चलकर सूबेदारनी हो जाती है। कहानी का अंत लहना सिंह की गुमनाम मौत से होता है और वह भी किसी शहीद के रूप में नहीं, और न ही प्रेम में जान कुर्बान करने वाले प्रेमी के रूप में; बल्कि घाव से मरने वाले सैनिक के रूप में। लहना सिंह अपनी गुमनाम मौत के बावजूद प्रेम में समर्पण का विराट् फलक गढ़ने में पूरी तरह सफल होता है। इससे बड़ी खुशी क्या हो सकती है कि जिसके नाम आप ने जीवन किया, उसके किसी काम आ सकें। लहना सिंह को अपनी जान नहीं बचानी थी, उसे तो सूबेदारनी के कहे की लाज रखनी थी। यह

प्रेम समर्पण की भट्टी में तपकर कुंदन की भांति निखर जाता है, जिसकी चमक शताब्दियों तक जस की तस बनी रहती है। शायद, यही कारण है कि यह कहानी आज भी उतनी ही ताजी है, जितनी सौ वर्ष पूर्व।

इस कहानी में कथ्य की एक और पृष्ठभूमि है। यह प्रेम के ठीक विपरीत युद्ध की भूमि है। गुलेरी जी ने बड़ी दक्षता से प्रेम का सहारा लेकर अपने समय की त्रासदी को कथा में ढाल दिया है। इस कहानी का बहुलांश प्रथम विश्वयुद्ध में खप रहे भारतीय सैनिकों की दास्तान भी है। दो गुटों की लड़ाई में हमारे दस हजार सपूतों ने कुर्बानी दी, जिसका प्रतीक 'इंडिया गेट' है। यह कुर्बानी आजादी के लोभ में ही तो दी गई थी, वरना मानवता के सबसे अमानुषिक घटना 'प्रथम विश्वयुद्ध' से हमारा कोई सीधा वास्ता नहीं था।

'उसने कहा था' पहली बार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में 'सरस्वती' के अक्टूबर १९१५ ई. के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस लिहाज से हम यह कह सकते हैं कि यह कहानी अपने प्रकाशन के शताब्दी वर्ष का उत्सव मनाने की तैयारियों में जुट गई है। मेरा विश्वास है कि एक बार फिर से हिंदी साहित्य इक्कीसवीं शताब्दी के समय और समाज को ध्यान में रखकर इस कहानी का पाठ करेगा, और निश्चित रूप से इसके टटकेपन को भी महसूसेगा। ऐसा करते वक्त यह भी पायेगा कि इस कहानी में वे सारे तत्त्व मौजूद हैं, जिनसे कोई रचना कालजयी होती है।

यह इसकी कालजयीता ही है कि विमल राय ने इस पर फिल्म बनाई और इसके अनेक नाट्य-रूपांतरण भी प्रस्तुत हुए। अब सवाल यह उठता है कि हम अपने समय में इस कहानी का पाठ किस तरह करें? इस संदर्भ में सबकी राय अलग-अलग हो सकती है। कोई प्रेम को आधार बनाकर करना चाहेगा तो कोई युद्ध को। प्रेम और युद्ध समाज में आज भी जिंदा है। लेकिन, सौ वर्ष पहले के समाज में जो प्रेम का उज्ज्वल स्वरूप था, वह आज के समाज में कितना बचा हुआ है? इसकी तलाश जरूरी है। युद्ध ने किस वेश में हमारे जीवन में घुसपैठ की है? इसकी परख भी जरूरी है। यह जानना भी दिलचस्प है

कि जिस समय तकनीक ने बाँहें नहीं फैलाई थीं, एक रचनाकार रचना में उसे कैसे संभव कर पाता रहा होगा ? जबकि आज अनगिनत तकनीकों के सहारे भी कोई रोमांच पैदा नहीं होता। आज बहुत कम ही लेखक हैं जो भाषा को जीवंत कर पाने में सफल होते हैं, उस समय हिंदी (खड़ीबोली) गद्य की भाषा बन रही थी तो फिर इस कहानी को रचने में गुलेरी जी को कितना श्रम करना पड़ा ? इस कहानी के बहुत से ऐसे पक्ष हैं जिन पर स्वतंत्र विचार की जरूरत है। मैं बस इतना ही कहना चाहूँगा कि हमारे समय और समाज में इस कहानी की प्रांसंगिकता और भी बढ़ जाती है। क्योंकि, जैसे-जैसे हमने जीवन को भौतिक सुखों से ज्यादा समृद्ध और खुशहाल बनाया है,

वैसे-वैसे हमारे शाश्वत मूल्य- प्रेम, दया, त्याग आदि का क्षरण बढ़ता गया है। हम ऐसे समाज में रह रहे हैं, जहाँ प्रेम के ऊपर वासना, दया के ऊपर क्रूरता और त्याग के ऊपर स्वार्थ का बोलबाला है। भले ही हमने कुरुक्षेत्र के मैदान में अस्त्र-शस्त्र लेकर उतरना छोड़ दिया है, पर अतृप्त महत्वाकांक्षा के कुरुक्षेत्र में न जाने रोज कितनी लार्शें बिछाते चले जा रहे हैं। हमारे पास थोड़ा भी अवकाश नहीं है कि हम कहीं रुककर विचार कर सकें कि हम क्या कर रहे हैं और अपनी संतानों के लिए कौन सी दुनिया रच रहे हैं ? यदि एक रचना हमें भटकने से रोक सकती है, किसी मोड़ पर हमारा परिष्कार कर सकती है तो वह अनेक बार अनेक दृष्टियों से पढ़ी जानी चाहिए।

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ. प्र., पिन- 221005

मो. 9455107472

प्रतिरोध का सिनेमा : पहला कोलकाता पीपुल्स फिल्म फेस्टिवल

२०-२२ जनवरी, २०१४

पीपुल्स फिल्म कलेक्टिव, कोलकाता की ओर से २२ जनवरी तक चलने वाले फिल्मोत्सव का उद्घाटन २० जनवरी को जाधवपुर विश्वविद्यालय के त्रिगुण सेन प्रेक्षागृह में हुआ। फिल्मोत्सव में अगले दिनों तक देश और दुनिया के विभिन्न हिस्सों के आंदोलनों को दर्ज करती दस्तावेजी फिल्मों का प्रदर्शन हुआ। कारपोरेट फासीवाद और सांप्रदायिकता के खिलाफ प्रतिरोध रचती इन फिल्मों में जनता के आंदोलनों का ताप दर्ज है। समारोह में संजय काक, मोइनाक विश्वास, रानू घोष, सूर्यशंकर दास, नकुल सिंह साहनी, बिक्रमजीत गुप्ता, मौसमी भौमिक और सुकान्त मजूमदार जैसे फिल्मकारों ने अपनी फिल्मों पर विचार रखें।

फिल्मोत्सव का उद्घाटन करते हुए फिल्म समीक्षक शमिक बंद्योपाध्याय ने दिन-ब-दिन आज के समय में कला-माध्यमों पर दैनंदिन बढ़ते हुए प्रतिबंधों का विरोध करते हुए कहा कि 'प्रतिरोध का सिनेमा' नई तकनीक के सहारे इसका प्रतिरोध विकसित करने की दिशा में एक कड़ी है। उत्तर प्रदेश की गोरखपुर जैसी जगह, जो सांप्रदायिक ताकतों की प्रयोगस्थली है, वहाँ इस आंदोलन के शुरू होने के गहरे मायने हैं। कवि मायकोव्स्की को याद करते हुए उन्होंने आशा व्यक्त की कि मुख्यधारा की 'बीमार सिनेमा' के खिलाफ 'प्रतिरोध का सिनेमा' जनांदोलनों की ऊष्मा के संग संघर्षों की कथा लिखेगा और लोगों तक संघर्षों के स्वर पहुंचाने में कामयाब होगा।

कवि सब्यसाची देव ने आयोजन की सफलता की कामना करते हुए कहा कि फिल्म एक ताकतवर माध्यम है। बंगाल में इसका आयोजन एक बेहतर शुरुआत है। उन्होंने कहा कि उदारीकरण के इस दौर में कलाओं की जिम्मेदारी बढ़ गई है। मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश के हालिया दंगों पर बेहतरीन दस्तावेजी फिल्म बना चुके युवा फिल्मकार नकुल सिंह साहनी ने अपना वक्तव्य देते हुए खुद को 'प्रतिरोध का सिनेमा' का एक साथी बताया। दस्तावेजी फिल्मों की मार्फत जनता तक जाने और उससे सीखने की ललक को रेखांकित करते हुए नकुल ने इस बात पर जोर दिया कि 'प्रतिरोध का सिनेमा' जैसे फिल्मोत्सव प्रयोगों को और आगे बढ़ाना होगा।

स्वागत भाषण देते हुए 'प्रतिरोध का सिनेमा' के राष्ट्रीय संयोजक संजय जोशी ने बताया कि आठ साल पहले उत्तर प्रदेश के छोटे से गोरखपुर जैसे कस्बे से ही शुरू हुआ यह आयोजन अब उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्तराखंड, छत्तीसगढ़, दिल्ली जैसे सबों की कई छोटी-बड़ी जगहों तक पहुंचा है। उन्होंने कहा कि इस आंदोलन के पीछे की असली ताकत लोग हैं। वे लोग जिन तक सत्ता प्रतिष्ठान, मीडिया घराने और फिल्मों की मुख्यधारा सच नहीं पहुंचने देती। लोगों में सच जानने की ललक है। सत्ता प्रतिष्ठानों,

कारपोरेट और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पैसों के चंगुल को तोड़ते हुए जन-भागीदारी और जनता की पूंजी से ही हम इस आंदोलन को आगे बढ़ा पाये हैं। इस आंदोलन के आवेग और बढ़ाव का यही कारण है। इस आंदोलन को प्रतिशोध की बजाय प्रतिरोध का सिनेमा बताते हुए उन्होंने कहा कि देश में कारपोरेट फासीवाद और सांप्रदायिकता की पगध्वनियाँ सुनाई दे रही हैं, ऐसे में जरूरत है कि हम दस्तावेजी फिल्मों के माध्यम से प्रतिरोध की आवाज बुलंद करें और ऐसे आंदोलनों को दूर-दराज तक फैला दें। इन वक्ताओं के साथ मंच पर युवा फिल्मकार सूर्यशंकर दास, फिल्म समीक्षक विद्यार्थी चटर्जी और गण संस्कृति परिषद, पश्चिम बंगाल के सहसचिव अमितदास गुप्ता भी उपस्थित थे।

उद्घाटन सत्र के बाद दूसरे सत्र में गुरविंदर सिंह निर्देशित फिल्म 'अन्हे घोड़े दा दान' दिखाई गई। पंजाब के गांवों के दलित जीवन की गहरी वर्गीय सच्चाईयों को उकेरती जमीन और सम्मान के सवाल को गहराई से गूँथ देती है। शहर में दलितों के विस्थापन की त्रासदी को भी फिल्म उभारती है।

वसुधा जोशी और रंजन पालित के निर्देशन में बनी फिल्म 'वॉएसेज फ्राम बलियापाल' समारोह में दिखाई जाने वाली दूसरी फिल्म थी। १८८९ में सामाजिक मुद्दों पर बनी सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार जीतने वाली यह फिल्म ओड़िशा के ऐसे इलाके की कहानी है जहां मिसाइल परीक्षण इलाका बनाया जाने वाला था। लगभग ७०,००० मछुआरों और किसानों के विस्थापन के दर्द को बयान करने के साथ ही यह फिल्म उनके अहिंसक आवेगमय प्रतिरोध को दर्ज करती है।

इसी कड़ी में सूर्यशंकर दास द्वारा निर्देशित फिल्म 'रिप्रेशन डायरी: द केस ऑफ ओड़िशा' दिखाई गई। यह फिल्म छोटे-छोटे वीडियो टुकड़ों की एक डायरी है, बेहतरीन कोलाज है, जो ओड़िशा में चल रही खनिज लूट, भीषण नृशंस दमन के अनसुने सच को सामने लाती है। फिल्म का दूसरा पहलू है आदिवासी व किसान समुदायों का जल-जंगल-जमीन के लिए प्रतिरोध। इस दमन, शोषण और अपमान के बहुराष्ट्रीय-देशी शासकवर्गीय दुष्चक्र के बीच भी लोगों का जुझारूपन, लड़ने की उनकी जरूरत और आकांक्षा, सबको फिल्म एक सूत्र में गूँथ कर पेश करती है। फिल्म के बाद दर्शकों के सवालों का

जवाब देते हुए निर्देशक सूर्यशंकर दास ने कहा कि बड़े मीडिया घराने और अखबरात बहुराष्ट्रीय और देशी दलालों के हाथ बिके हुए हैं। ऐसे में 'प्रतिरोध का सिनेमा' जैसे आयोजन ही वह मौका हैं, जहां से हम अपनी बात कह सकते हैं। संघर्षरत लोगों के खुद के बनाए हुए वीडियो फुटेजों का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा कि जहां-जहां दमन होगा, संघर्ष होगा, कैमरा लिए हमें भी उस प्रतिरोध में शामिल रहना होगा।

कश्मीर के सवालों पर बेहतरीन फिल्म 'जश्ने आजादी' बना चुके जाने-माने फिल्मकार संजय काक की 'माटी के लाल' फिल्म समारोह की अगली प्रस्तुति थी। पंजाब, छत्तीसगढ़ और ओड़िशा के विभिन्न जनांदोलनों को एक जगह एक वृत्तान्त में समेटने की कोशिश करती यह फिल्म जनता के संघर्ष के विभिन्न तौर-तरीकों और प्रयोगों को दर्ज करती है। भारतीय लोकतंत्र की भयावहता का पर्दाफाश करती यह फिल्म बस्तर के आदिवासियों के सशस्त्र प्रतिरोध के साथ पंजाब के किसानों और ओड़िशा के आदिवासियों के संघर्ष को सामने लाती है। सरकारों द्वारा जनता के खिलाफ चलाये जा रहे युद्ध की बारीक पड़ताल करते हुए यह फिल्म लोगों की आँखों में बदलाव के सपने रेखांकित करती है। फिल्मकार संजय काक ने दर्शकों के सवालों का जवाब देते हुए कहा कि सरकारें और सत्ता वर्ग आदिवासी-मजदूर-किसान जैसे तबकों के खिलाफ युद्धरत हैं। ऐसे में लोग जैसे भी प्रतिरोध कर सकते हैं, वे कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि यह लोगों की जिंदगी का सवाल है, वे तो अपनी लड़ाई लड़ेंगे ही, लड़ ही रहे हैं। प्रतिबद्धता तय करना हमारे ऊपर है।

पहले दिन की आखिरी फिल्म युवा फिल्मकार नकुल सिंह साहनी की 'मुजफ्फरनगर टेस्टीमोनियल' थी। उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर में ०७ सितंबर २०१३ से शुरू हुए सांप्रदायिक दंगों के ऊपर आधारित थी। त्रिगुण सेन प्रेक्षागृह के बाहर प्रगतिशील आंदोलन के हमराह और चित्रकला में प्रतिरोध विकसित करने वाले महान चित्रकारों चित्तप्रसाद और जैनुल आबेदीन की कलाकृतियों की प्रदर्शनी भी आयोजित की गई थी। किसान-मजदूरों के रोजमर्रा की जिंदगी की हकीकत के साथ बंगाल के भयावह अकाल का यथार्थ बयान करने वाले चित्रों ने दर्शकों को गहरे प्रभावित किया। साथ ही कोलकाता के युवा छायाकारों के चित्रों की प्रदर्शनी ने भी दर्शकों को आकर्षित किया।

दूसरे दिन, २१ जनवरी २०१४ को पहले सत्र की शुरुआत बंगाल के जाने-माने दस्तावेजी फिल्मकारों मोइनाक विश्वास, अर्जुन की फिल्म स्थानीय संवाद से हुई। फिल्म कोलकाता के विभिन्न इलाकों के शहरी जीवन को बड़े धैर्य के साथ चित्रित करती है। फिल्म के कैनवास पर चोर, व्यापारी, कवि, प्रेमी, दुकानदार, साधु आदि तरह-तरह के पात्र हैं। बहुत सारे पात्रों के साथ फिल्म के बिखरने का खतरा रहता है परन्तु यह फिल्म कोलकाता शहर में बदलते देशकाल को दिखाने में सक्षम साबित होती है।

दूसरे सत्र में बांग्ला-हिन्दी फिल्म 'क्वार्टर नं. ४/११' का प्रदर्शन किया गया जिसके निर्देशक राजू घोष हैं। यह फिल्म कोलकाता शहर के उन सवालियों पर रोशनी डालती है जो विकास के नाम पर रियल इस्टेट के काले धन्धों का आईना है। यह फिल्म महानगर में निरंतर फैलती विस्थापन की भीषण दुःखगाथा को दर्शाती है। अगली फिल्म सुरभि शर्मा की 'विदेशिया इन बंबई' थी। यह फिल्म उत्तर भारत के भोजपुरी इलाके के उन प्रवासी मजदूरों की कहानी है जो बंबई जाकर बस गए हैं। फिल्म भोजपुरी संगीत के नए रूपों के माध्यम से बंबई में मजदूरों की जिंदगी और गाँवों में उनके प्रवास को दर्ज करने की कोशिश करती है। बंबई जैसे बड़ी पूंजी वाले शहर में यह फिल्म विस्थापित मजदूरों के संसार तक हमें लिए जाती है।

अगली फिल्म थी 'गाड़ी लोहरदग्गा मेल' जिसका निर्देशन बीजू टोप्पो और मेघनाद के किया है। यह फिल्म गीतों और बतकही का अद्भुत संगम है। एक रेल लोगों के जिंदगी में कैसे दर्ज है और एक पूरे समुदाय के संस्कृति को कैसे प्रभावित करती है, इससे स्पष्ट होता है। नवंबर १९०७ में शुरू हुई छोटी लाइन की लोहरदग्गा मेल को जनवरी २००७ में बंद कर दिया गया। रेल के आखिरी दिनों में निर्देशक प्रसिद्ध मुंडारी विद्वान स्वर्गीय रामदयाल मुंड और लोक कलाकारों मुकुन्द नायक और मधु मसूरी के साथ रेल के सफर में हैं। जहाँ गीतों और बहसों से उस इलाके के चित्र हमारे सामने उभरते हैं। बंगाल और बंगाल के विस्थापन और संगीत पर केंद्रित प्रसिद्ध बांग्ला गायिका मौसमी भौमिक और सुमित मजूमदार की प्रस्तुति 'द ट्रेवेलिंग अर्काइव' ने दर्शकों को सम्मोहित कर लिया। लोक संगीत की मौलिकता की धारणा को प्रश्नांकित करते हुए कहा कि संगीत देशकाल पर गहरा असर डालते हैं।

दिन की आखिरी प्रस्तुति तारीख और कैथरीन मसूद निर्देशित १९९५ की बांग्ला देश की दस्तावेजी फिल्म 'मुक्तिर गान' थी जो कि विश्व स्तर पर सराही गई। यह फिल्म बंगलादेश के १९७१ के मुक्तिसंग्राम के सांस्कृतिक पक्ष को पेश करती है।

इस क्रम में सुबह सबसे पहले नए भारतीय सिनेमा कैटगरी के तहत आमिर बशीर निर्देशित हारुद दिखाई गयी। हारुद, जिसका अर्थ पतझड़ भी होता है, ऐसे काश्मीरी युवक रफीक की कहानी है जिसका बड़ा भाई तौकीर टूरिस्ट फोटोग्राफर था और एक दिन अचानक गायब हो गया। रफीक बिना किसी मकसद के यूँ ही घूमता फिरता है और एक दिन उसे अचानक अपने भाई का खोया हुआ कैमरा भी मिल जाता है। फिल्म का परिचय देते हुए संजय जोशी ने हारुद के बहाने नए भारतीय सिनेमा में हुई दस्तावेजी सिनेमा की आवाजाही को रेखांकित किया।

दोपहर के सत्र में भारतीय राज्य सत्ता के चरित्र को उजागर करती हुई आनंद पटवर्धन की 'जमीर के बंदी' और कुमुद रंजन की 'आफ्टर द आफ्टरमाथ' भी दिखायी गई। जमीर के बंदी श्रीमती गांधी द्वारा थोपे गये आपातकाल की कहानी कहती है जिसमें इसके कारणों की पड़ताल के साथ महत्वपूर्ण राजनैतिक बंदियों के इंटरव्यू भी शामिल हैं। कुमुद रंजन की फिल्म 'आफ्टर द आफ्टरमाथ' २०१२ के साल में बिहार के बथानी टोला में २० लोगों की हत्या हुई थी और साल २०१२ में सभी अभियुक्तों को कोर्ट से बरी कर दिया गया था-पर प्रकाश डालती है।

जमीर का परिचय देते हुए सब्यसाची देब ने आपातकाल की परिघटना और आज के समय के अघोषित आपातकाल को सम्बद्ध किया साथ ही भारतीय दस्तावेजी सिनेमा में आनंद पटवर्धन के महत्व को रेखांकित किया। आफ्टर द आफ्टरमाथ का परिचय देते हुए और संजय जोशी ने स्वतंत्र फिल्म निर्माण और फिल्म स्क्रीनिंग के महत्व को रेखांकित किया।

डाक्युमेंटरी क्लासिक के तहत मन्जीरा दत्ता की १९८८ में बनी 'बाबूलाल भुइयां की कुर्बानी' दिखाई गयी। यह फिल्म १९८१ में मैलागोरा कायलरी में काम करने वाले बाबूलाल की सी आई एस एफ के जवान द्वारा की गयी हत्या के बहाने हाशिये पर रह रहे भारतीय मजदूर वर्ग की दशा और इस कुर्बानी के मायनों की

पड़ताल करती है। इस फिल्म का परिचय देते हुए पूर्वा रुद्रा ने भारतीय दस्तावेजी सिनेमा द्वारा नए सामाजिक सच को रेखांकित किये जाने के फिल्मकारों के प्रयास और विशेष तौर पर रंजन पालित के छायांकन की सराहना की।

२०११ के जून महीने में मारुति उद्योग के मजदूरों द्वारा आयोजित साहसिक हड़ताल पर नकुल सिंह साहनी द्वारा पेश की जानी वाली प्रस्तुति किसी अतिआवश्यक काम के चलते फेस्टिवल में अनुपस्थित हो जाने के कारण सिर्फ १५ मिनट के वीडियो अंश को दिखाकर ही सम्पन्न हो सकी। इस वीडियो अंश के जरिये हमें न सिर्फ उस ऐतिहासिक हड़ताल का पता चलता है बल्कि इसके बहाने एक बड़े वर्ग संघर्ष का भी अहसास होता है। इस प्रस्तुति का परिचय देते हुए राजीव कुमार ने बताया कि कैसे मजदूरों के टिफिन के जरिये कैमरे की चिप फैक्ट्री के अन्दर पहुंचाई गयी और फिर उस चिप के जरिये अन्दर का सच हम सब तक पेश हो पा रहा है।

तीसरे दिन की शाम को आयोजित हुआ पैनल डिक्शन इस फेस्टिवल की उपलब्धि था। इसका विषय था जन संघर्ष और नया कैमरा। इसमें फिल्मकार संजय काक, रानू घोष, सूर्यशंकर दास और राजीव कुमार ने हिस्सा लिया और इसका संचालन प्रतिरोध का सिनेमा अभियान से जुड़े संजय जोशी ने किया। इस बातचीत में संजय काक ने विस्तार से नए बनाते हुए सिनेमा परिदृश्य की चर्चा की और उसमें नयी टेक्नोलॉजी और सिनेमा दिखाने के नए प्रयासों के महत्व को रेखांकित किया। रानू घोष ने बताया कि कैसे फंडिंग उनके खुद के काम की सीमा बनती रही है और वे अपने मन के काम के लिए स्वतंत्र प्रयास करती हैं। वे फंडिंग वाली फिल्मों और अपने खुद के पैसों से बनी फिल्म के फर्क को भी ठीक से समझती हैं और प्रतिरोध का सिनेमा जैसे अभियानों से मजबूती भी ग्रहण करती हैं। सूर्यशंकर दास ने ओड़िशा के अपने अनुभव के संदर्भ के साथ कहा कि मेरे लिए सिर्फ छोटे कैमरे का होना ही महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि यह किन लोगों के हाथ में हैं। उन्होंने ओड़िशा

के जनजीवन को तबाह कर रही कुख्यात बहुराष्ट्रीय कंपनी वंदाता द्वारा उड़ीसा के मीडिया छात्रों के बीच पुरस्कारों के लालच के साथ अपने कार्पोरेट सोशल रेस्पॉन्सिबिलिटी (सी एस आर) प्रयास पर फिल्म प्रतियोगिता आयोजित किये जाने के कुत्सित अभियान की चर्चा भी की। राजीव कुमार ने कैमरे को कलम की तरह सस्ता और सर्वसुलभ होने पर बल दिया। एक दर्शक दीपांजन ने जब यह सवाल किया कि इस तरह के फेस्टिवल को हमें और छोटी जगहों पर ले जाना चाहिए तभी इसका कुछ मतलब होगा तब संजय जोशी ने विस्तार से प्रतिरोध का सिनेमा अभियान की यात्रा के बहाने बताया कि कैसे आम लोगों के सहयोग पर आधारित यह प्रयोग समूचे भारत के छोटे-बड़े कस्बों में सार्थकता साबित कर पा रहा है। दीपांजन द्वारा ही जब यह सवाल उठाया गया कि स्पॉन्सरशिप से कोई हर्ज नहीं होना चाहिए तब अन्य दर्शकों ने ही उसके बात का प्रतिवाद किया और कहा कि खुद प्रतिरोध का सिनेमा की यात्रा से क्या कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि बिना स्पॉन्सरशिप लिए भी सार्थक अभियान संचालित किये जा सकते हैं। १०० मिनट चले इस सत्र पैनल के अलावा लगभग १०० दर्शकों की भी सक्रिय भागीदारी रही। उत्सव की आखिरी फिल्म थी बिक्रमजीत गुप्त निर्देशित अचल। आज के वैश्विक समय में अन्वीन्हे तमाम चरित्रों की कहानी कहती यह फिल्म दर्शकों द्वारा खूब सराही गयी। फिल्म के बाद चर्चा के दौरान फिल्म के निर्देशक बिक्रमजीत गुप्त, छायाकार अमित मजूमदार और साउंड सिकार्डिस्ट सुकांतो मजूमदार के साथ फिल्म के प्रवाह को बनाए रखने के लिए कैमरे और साउंड के बारे में विस्तार से बात की। निर्देशक बिक्रमजीत ने विस्तार से बताया कि कैसे इस फिल्म के कम बजट ने फिल्म के ट्रीटमेंट को प्रभावित किया और फिल्म को संवारने में इससे ताकत भी मिली।

फिल्म उत्सव का समापन संजय तिवारी के समूह द्वारा मोहिनेर घोगुली के गीत 'हे भोलाबासी' और 'इन्टरनेशनल' के गायन से हुआ जिसमें गायन समूह के अलावा दर्शकों ने भी भागीदारी की।

(संयोजक - कस्तूरी)

विद्यार्थी मंच का घोषणापत्र

पढ़ना हमें संवेदनशील बनाता है, लिखना हमें संप्रेषण की क्षमता प्रदान करता है। पढ़ने-लिखने का चलन आधुनिक युग की देन है। हमारे देश में नवजागरण के विकास के साथ पढ़ने की संस्कृति का जोरदार स्वागत हुआ— पढ़ने में निष्णात व्यक्ति ही समाज में सम्मान का अधिकारी माना जाता था। सम्मानित व्यक्ति 'अपने' को अथवा उस 'निजत्व' को प्राप्त करता था जो उसे व्यक्तित्व प्रदान करता था, किन्तु तब पढ़ना एक संस्कृति थी अब पढ़ना एक प्रौद्योगिकी है। कभी हमारे संस्कार में दृष्टिकोण का महत्त्व था— दर्शन का निर्धारण करना हमें विरासत से प्राप्त था परंतु आज उपभोक्तावाद की आँधी में हम जीवन-मूल्य से विलग होकर बाजार में खड़े हो गये हैं— ललक और लिप्सा हमें विक्षिप्त-सा कर रही है। ऐसे समय में अन्य ज्ञानानुशासनों की भाँति ही हिन्दी का भी, पठन-पाठन एवं अध्ययन-अध्यापन से जुड़ा एक वृहद समाज है। वर्ष दर-वर्ष एक बड़ी जमात भाषा एवं साहित्य की डिग्रियों से लैस होकर सशस्त्र सेनानी की तरह जिन्दगी की दौड़ में निकलती है— यह एक सुखद संकेत है, परंतु बेचैनी तब बहुत बढ़ जाती है जब साहित्य को सूचना की कोटि तक ही सीमित कर दिया जाता है। 'विद्यार्थी' शब्द अपने व्यापक कलेवर में अध्ययन एवं अध्यापन दोनों को समवेत रूप से समेटे हुए है। वर्तमान समय में इस शब्द ने अपने अर्थ-गाम्भीर्य को खो दिया है क्योंकि यह शब्द अपने सीमित अर्थ में छात्र होने का बोध कराने लगा है। अस्तु, 'विद्यार्थी' शब्द की व्यापकता को अंगीकार करते हुए आवश्यकता है कि हम एकजुट होकर पढ़ने-पढ़ाने की संस्कृति को विकसित करें। इसलिए विद्यार्थी मंच के निम्नलिखित संकल्पों को कार्यान्वित करने का व्रत लें—

१. साहित्य और भाषा के प्रति लोगों में अभिरुचि उत्पन्न करना।
२. विभिन्न महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम पर विचार विमर्श कर, गवेषणामूलक कार्यों की ओर कर विद्यार्थियों को उन्मुख करना।
३. शोध के क्षेत्र में आई निस्संगता को दूर कर गंभीर विवेचनपरक दृष्टि का विकास करना।
४. साहित्य के पाठक को जागरुक बनाना।
५. वर्तमान समय में साहित्य एवं भाषा के अध्ययन-अध्यापन से जुड़ी जितनी समस्याएँ हैं, उन पर गंभीर चिंतन, विवेचन, विश्लेषण कर समय-समय पर विमर्श स्थापित करना।
६. अध्ययन एवं अध्यापन के क्षेत्र में आई मूल्यहीनता एवं स्तरहीनता के प्रति लोगों में जागरुकता का संचार करना।
७. एक अकादमिक पत्रिका के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में नवीन अनुसंधान परक सामग्री का प्रकाशन करना।
८. समय-समय पर स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्य-क्रमों को ध्यान में रखकर कार्यशाला और संगोष्ठियों का आयोजन करना।
९. विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद कार्य को विकसित करना।
१०. साहित्यिक धरोहर का पुनर्मूल्यांकन एवं प्रकाशन करना।
११. सर्जनात्मक साहित्य के सर्जन एवं संचार को प्रोत्साहित करना।

अभिषेक-चावडे

महासचिव
विद्यार्थी मंच

इस पार तक...

उसके बारे में कविता करना
हिमाकत को बात होगी
और वह मैं नहीं करूँगा

मैं सिर्फ आपको आपोजित करूँगा
कि आप आएँ और मेरे साथ खोपे
उस आग तक चलें
उस घूँगे तक - जहाँ वह पक रही है
एक अद्भुत ताप और गरिमा के साथ
समुची आग को गन्ध में बदलती हुई
दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज
वह पक रही है

और पकना
लौटना नहीं है जहाँ के ओर

वह आगे बढ़ रही है
घोर-घोर
झपट्टा मारने को तैयार
वह आगे बढ़ रही है

उसकी गरमाहट पहुँच रही है आदमी की नोंद
और किचारी तक

बैदरनाथ सिंह

प्रकाशक - आनन्द कुमार मिश्रा
छिद्रपी पीथ, 62/1 आधुनिक मुक्तमै पीथ, मालविन्द, अयोध्या-६
मुद्रक : मिश्रण, 10 लीलावन पीथ - मुद्रक, मोलकपुर-700 009
संपादक- डॉ. नीला मिश्र